श्रद्धेय 'बाबूजी'

श्री भगवान्दास जी को

प्रस्तावना

स्वतंत्रता-दिवस—२६ जनवरी, १९४२

उस दिन सबेरा हो जाने पर भी और दिनों की भाँति हमारे 'सेलों' (कालकोठरियों) के मोटे-मोटे लोहे के सीकचों वाले फाटक न खुले। जेल की गुमटियों पर भी संगीन चढ़ाए राइफल-धारियों के पहरे बैठा दिए गए थे। विदेशी शासक हमें अपनी मातृभूमि की प्रार्थना करने और उसे आजाद करने की शपथ लेने से रोक रखना चाहते थे। इसी चेष्टा में उन्होंने हमें हवा और रोशनी से यथासंभव वंचित कर रखा था।

पर यह उनकी नासमझी थी। अँधेरी कालकोठरियों में रख दिए जाने पर कहीं हम अपनी मातृभूमि की गोद से वंचित किए जा सकते हैं!

उस दिन अंधकार में रखे जाने पर भी हम मातृभूमि की प्रार्थना करते समय वही अनुभव कर रहे थे जिसे रवीन्द्रनाथ ने अपने गान में कहा है—

"तुमि मिशेछो मोर देहेर सने
तुमि मिलेछो मोर प्राणे मने
× × ×
चिर दिन तोमार आकाश, तोमार बातास,
आमार प्राणे बाजाए बाँशि।"

वहाँ से गंगा दूर थी। हिमालय और सागर और भी अधिक। फिर भी हम उन्हें अपने भीतर देख रहे थे। कितना निकट! हम उनका स्पर्श अनुभव करते थे। वैसा स्पर्श और किसी का हो नहीं सकता—सिवा हमारी मातृभूमि के। उसीकी आवाज़ भी सुनाई देती थी—'यहाँ भी तुम मेरी ही गोद में हो!'

यह अनुभव ही इस पुस्तक का आदिस्रोत है।

अपनी मातृभूमि के जिन चित्रों, कहानियों और विचारों से मुझे वास्तविक जीवन में प्रेरणाएँ और संघर्ष के लिए शक्ति मिलती रही है उन्हें एक सिलसिले से रख कर देखना चाहता हूँ। इसी चेष्टा के फलस्वरूप हैं—आगे के पृष्ठ।

संदेह नहीं, यदि हमें अपनी भारतीय आत्मा की शाश्वत वाणी कहीं सुनाई देती है तो—वैदिक काल के इतिहास में। वही शाश्वत वाणी आजतक हमारे सारे जातीय जीवन को नियंत्रित और अनुप्राणित करती आई है। इसीलिए आज जब सारे संसार में अभूतपूर्व परिवर्तन चल रहे हैं उस समय विशेष रूप से उस वाणी की ही ओर लक्ष्य रखे रहना और भी आवश्यक हो गया है। इससे हमें अपने वर्तमान स्वातन्त्र्य-संग्राम में नया बल और नई प्रेरणाएँ मिलेंगी।

भविष्य भी विश्व-इतिहास की पटभूमि पर जो महान चित्र अंकित करने जा रहा है उसे अपने ध्यान-नेत्रों से देख सकने वालों का यही खयाल है कि उसमें प्राच्यविचारधारा—वैदिक

ऋषियों का दिखलाया सत्य ही विश्वमानव के वास्तविक कल्याण का पथप्रदर्शक बनेगा। रवीन्द्रनाथ की अन्तिम वाणी है—'आज आशा लगाए हूँ—हमारे इस दरिद्र लाछित कुटीर में ही परित्राणकर्ता का जन्मदिन आ रहा है। प्रतीक्षा में रहूँगा—वह इस पूर्वदिगंत से ही सभ्यता की दैववाणी ले कर आएगा और मनुष्य के परम आश्वासन की बातें आदमियों को आकर सुनाएगा। ××× इस महाप्रलय के बाद, विराग के मेघ से मुक्त आकाश में इस पूर्वाचल के सूर्योदयवाले दिगंत से ही इतिहास का एक निर्मल आत्मप्रकाश आरंभ होगा।'

इस आशा और प्रतीक्षा के अवसर पर, आज जब हम परतंत्रता के अंधकारमय जीवन से निकल कर स्वतंत्रता के ज्योतिर्मय जीवन की ओर अग्रसर हो रहे हैं, यह परम आवश्यक है कि हम उसके संबंध में गहरी चेतना अनुभव करें जिसे हम पुकारते हैं—'हमारा देश।'

× × ×

प्रस्तुत पुस्तक में बहुत-सी त्रुटियाँ रह गई हैं। पर अनेक मामलों में परिस्थिति ने ही लाचार कर रखा था। जेल में आधार-पुस्तकों के जुटाने की तो बात ही दूर रही, कागज और पेन्सिल जैसी अनिवार्य आवश्यकताओं के लिए भी कम संघर्ष नहीं करना पड़ता। पर इस अवसर पर भी रवीन्द्रनाथ के गान ही हमें प्रोत्साहित कर कहते रहे हैं—

'तरीखाना बाईते गेले, माझे माझे तूफान मेले
ताई बले हाल छेड़े दिए, काबाकाटि धरबो ना॥'

जेल से किसी क़दर पाडुलिपि का उद्धार करता बाहर भी आया तो कागज और प्रेस की समस्या सामने थी। युद्ध-जनित कारणों से इन्हें हल करना भी वैसा आसान नहीं था। खासकर प्रेस ने मेरे लिए कम झुँझलाहट का कारण उपस्थित नहीं किया है। बहुत परिश्रम के बाद भी प्रूफ़ की अनेक ग़लतियाँ रह गई हैं जिनके लिए मैं बहुत ही लज्जित हूँ। साथ ही, जिस सज-धज के साथ यह पुस्तक निकालना चाहता था, नहीं निकाल सका। यह सब कमी अगले संस्करण में दूर कर देने का वादा करता हूँ। इस बार की त्रुटियों के लिए चाहता हूँ—माफ़ी।

इस पुस्तक के सबंध में श्री पंडित 'बिन्दुजी' गोस्वामी महाराज, काशी के मित्रवर 'शास्त्रीजी' तथा श्री कांतिलाल लालभाई ठक्कर से जो सहायता मिली है उसके लिए मैं उनका आभारी हूँ। साथ ही, आदरणीय साहित्यिक श्री शिवपूजन सहायजी और श्री सुमंगलप्रकाशजी ने इस पुस्तक की त्रुटियों के सुधारने में जो हिस्सा लिया है वह मुझे ऋणी बनाए रखेगा।

पटना
महाशिवरात्रि, २००२

सत्यनारायण

सूची

भारतभूमि

हमारे पूर्वज

भारतवर्ष

रामायण-काल

भूल-सुधार

पृ० ९ की आठवीं लाइन मे '*गर्भशृङ्खला*' के स्थान पर '*गर्मशृङ्खला*' और पृ० २८ की दसवीं लाइन में '*अभिसार*' की जगह '*अमिसार*' भूल से छप गया है। प्रूफ की और भी गलतियों के लिए भी क्षमा चाहता हूँ।

भारतभूमि

मातृभूमि की कहानी

प्रकृति महान् कलाकार है। मूर्तिनिर्माण कला में तो वह अद्वितीय है। इस धरातल के नाट्यमंच पर मालूम नहीं वह कितनी तरह की चित्र-विचित्र मूर्तियाँ गढ़ा करती है। हमारी मातृ-भूमि की विराट् मूर्ति भी उसी के द्वारा निर्माण की गई है। प्रकृति के इस निर्माण-कौशल के सिलसिले में ही हमारे देश के स्थूल-पट पर हमारी मातृभूमि की कहानी भी अंकित होती गई है।

जहाँ आज हिमालय पर्वतमाला है वहाँ एक समय समुद्र था। उसका नाम विशेषज्ञ 'टेथिस-सागर' देते हैं। उसकी चौड़ाई कम से कम साढ़े चार सौ कोस थी। उसके दक्षिणी तट पर आज जहाँ कश्मीर और आसाम हैं उन दिनों शुष्क भूमि थी, बाकी समुद्र था। धीरे-धीरे उस समुद्र का तल ऊपर उठा। उसी उठे हुए समुद्र-तल ने आज हिमालय पर्वत का रूप ले लिया है।

हिमालय के उठने से उसके नीचे, दक्षिण की भूमि दबती गई। उस भूमि पर समुद्र ही लहराता रहा। वह समुद्र आसाम की तलहटी से लेकर सिन्ध तक जाता था। उसके दो हिस्से थे—एक पूर्वी और दूसरा पश्चिमी[1]। पूर्वी समुद्र आज के सारे युक्तप्रांत और बिहार को ढँकता आसाम तक चला गया था। इसमें गंगा-यमुना गिरती थीं। जहाँ आजकल राजपुताना है वहाँ पश्चिमी समुद्र था। उन दिनों सरस्वती नदी इसी समुद्र में गिरती थी। इस पश्चिमी समुद्र का विस्तार दक्षिण-पूर्व में अरावली पहाड़ तक था, पश्चिम में यह अरब सागर से मिला हुआ था। अरावली और विन्ध्य पर्वतमालाएँ अवश्य ही बहुत पुरानी हैं। दक्षिण की भूमि भी उत्तर-भारत की भूमि की अपेक्षा पुरानी है। और भी पश्चिम के अरब सागर से जिसमें सिन्धु गिरती थी, अलग करने के लिए अरावली से सटे समुद्र को दक्षिणी-समुद्र कहा जा सकता है।

इस दक्षिणी-समुद्र और उत्तर में हिमालय के बीच जो

---

१ ऋग्वेद के निम्नलिखित मंत्र में दोनों समुद्रों का उल्लेख मिलता है —

वातस्याश्वो वायो सखायो देवेषितो मुनि ।
उभासमुद्रावाक्षेति यश्चपूर्व उतापर ।
(ऋ० १०—१३६ ५)

वायुभोक्ता द्योतमान सूर्य जैसे रूपवाले वायु के सखा मुनि—(कीर्तित नाम के ऋषि) दोनों समुद्रों के पास जाते हैं। कौन दोनों समुद्र वह जो पूर्व में है और दूसरा जो पश्चिम में है।

प्रदेश था वहाँ वेदों के अनुसार आर्य लोग रहते थे। इसके पहाड़, इसकी भूमि, इसकी नदियाँ उन्हें बहुत प्यारी थीं। यहीं उनकी संस्कृति का उदय और विकास हुआ। इसी प्रदेश का नाम उन्होंने 'सप्तसिंधव' दिया था।

जिन सात नदियों के कारण इस प्रदेश का नाम सप्तसिंधव पड़ा था वे थी—सिन्धु, विपाशा (व्यास) शुतुद्रि या शतद्रु (सतलज), वितस्ता (झेलम) असिक्नी (चनाव), परुष्णी (रावी) और सरस्वती। यह सप्तसिंधव प्रायः वही प्रदेश है जिसका नाम आजकल पंजाब-कश्मीर है।

गंगा और यमुना उन दिनों सप्तसिंधव के बाहर थीं। प्राचीन वैदिक काल में उनका आज जैसा महात्म्य भी नहीं था। उन दिनों सिन्धु और सरस्वती का ही यशोगान होता था। वेद-मंत्रों में सिन्धु को सीधे बहनेवाली, श्वेत वर्ण, दीप्यमाना, वेगवती, अहिंसिता और नदियों में श्रेष्ठ नदी कहा गया है।[१]

है जैसे जडो को खोदने वाले मिट्टी के ढेरो या टीलो को तोड डालते हैं। देवगण घुटने टेक कर उसके पास आवें।'[३]

इन्हीं नदियों के तट पर प्राचीन आर्यों की बस्तियाँ थीं और ऋषियो के तपोवन थे।

वैदिक आर्यों ने सप्तसिंधव मे रहते हुए अपने पूर्व और दक्षिण की ओर समुद्र देखा था। उनका अफगानिस्तान के पश्चिम के किसी देश से परिचय नहीं था और न उनको गगा से पूर्व के भूभाग का पता था। उनके समय में गगाजी अपने स्रोत से निकलने के थोडी ही दूर बाद 'पूर्वी समुद्र' मे मिल जाती थीं। उनकी धारा ही आर्यो के पूर्वी विस्तार की सीमा थी। उन आर्यो के सामने ही गगा की धारा पूर्व की ओर मुडी और धीरे-धीरे समुद्र की जगह मनुष्य के बसने योग्य भूमि पडी। भूगर्भ शास्त्र के अनुसार, हमारी मातृभूमि की बनावट की यह कहानी आज से पचीस हजार वर्ष पहले और पचास हजार वर्ष से इधर की है।[४]

---

३ ऋक् ६—६१ २—१२ ७—६५,५ आदि मत्र।

४ इस संबध में विशेष जानकारी के लिए श्री सम्पूर्णानद लिखित 'आर्यों का आदि देश' देखना चाहिए। इस पुस्तक में मैंने उनका ही अनुकरण किया है। उनके बहुत से उद्धरण विषय से संबध रखते स्थानो पर ज्यों के त्यों दे दिए गए हैं। मैं उनका बहुत ऋणी हूँ।

साथ ही श्री अविनाश चद्र दास लिखित 'ऋग्वेदिक इण्डिया' और 'करेंट सायन्स (अगस्त १६३६) डा० बीरबल साहनी तथा 'जिओलोजी आव इण्डिया' में वाडिया का वर्णन देखना चाहिए।

इस लंबे काल के बीच बहुत बड़े-बड़े परिवर्तन हुए हैं। पहले ब्रह्मपुत्र से सिन्धु तक एक नदी-माल बना हुआ था। इसीलिए भूगर्भ-पंडितों की भाषा में उसका नाम 'सिन्धु-ब्रह्म' है। फिर बीच की भूमि उठ जाने से वह माला टूट गई। सप्तसिंधव वा पंजाब की नदियाँ सिन्धु में मिलीं। पूर्व की नदियाँ प्रवाह की दिशा बदल कर पूर्ववाहिनी हो गईं। समुद्र ज्यों-ज्यों हटता गया गंगा और यमुना त्यों-त्यों आगे बढ़ती गईं। भूमि पटती गई। फिर यमुना भी गंगा में आ मिलीं। गंगाजी सागर से मिलने के लिए कई सौ कोस चलकर गंगासागर तक चली गईं। 'पूर्वी-समुद्र' के हटने के बाद ही ब्रह्मपुत्र नदी भी आसाम के मार्ग से आकर गंगा में आ मिली।

इधर दक्षिणी समुद्र भी सूखा। लहरों की जगह रेत ने ली। पूर्व में गंगा, यमुना जैसी नदियों ने हिमालय से मिट्टी ला आज के युक्तप्रांत, बिहार और बंगाल की सृष्टि की थी, पर दक्षिण में ऐसा कुछ नहीं हुआ। यहाँ हिमालय की मिट्टी न पड़ सकी, समुद्र-जल के नीचे का सिर्फ बालू ही बालू रह गया। उस जमाने के समुद्र की यादगार में अब सिर्फ सांभर झील रह गयी है, नहीं तो बाकी प्रदेश राजपुताने का रेगिस्तान बन गया है। उस समुद्र में गिरने वाली 'महान् हलचल का समुद्र, समुद्र के समान गंभीर, शब्दमयी, तेजस्विनी, सामर्थ्यवती'

सरस्वती अब एक छोटी-सी नदी रह गई है, जो राजपुताने की रेत में आकर समाप्त हो जाती है। अब उसका पुराना नाम भी लोप हो चला है। उसके निचले भाग को अब लोग घग्घर कहते हैं जो दृशद्वती के लिए भी आता है।

हमारी मातृभूमि की रूप-रेखा में इस बीच और भी बहुत-से परिवर्तन हुए हैं। प्रकृति ने इन्हें और भी सुन्दर सुडोल गढ़ने की चेष्टा की है। इसके लिए उसे यहाँ की कुछ नदियों के मार्ग बदलने पड़े हैं। थोड़ा बहुत परिवर्तन अब भी जारी है। हिमालय का उत्थान अभी रुका नहीं है। नदियाँ अब भी मिट्टी कंकड़ का ढेर लाकर अपने किनारे की भूमि ऊँची करती जा रही हैं।

ऋतु की तीव्रता में भी हेरफेर हुआ है। सप्तसिंधव शीत प्रधान था। सर्दी कड़ी पड़ती थी। वर्षा भी खूब होती थी। इसके मुख्य कारण अवश्य ही सप्तसिंधव की सीमा पर के समुद्र थे। उन समुद्रों से भाप बनकर पहाड़ों पर बर्फ जमती थी, वर्षा होती थी और नदियाँ 'समुद्र का रूप' धारण करने के लिए तुली रहती थीं।

पर आज उस प्रदेश में वे बातें नहीं हैं। सप्तसिंधव की सीमा पर के समुद्र सूख गए हैं। एक ओर के समुद्र का स्थान मरुभूमि ने ले लिया है, इस कारण वहाँ की ऋतु बदल गई है। अब पंजाब में जाड़े के दिनों में जैसी कड़ी सर्दी

पड़ती है, गर्मियों में गर्मी भी वैसी ही कड़ी रहती है। आजकल पंजाब में वर्षा भी साधारण हो गई है। ये परिवर्तन अवश्य ही भौगोलिक स्थिति पलट जाने के कारण आ गए हैं।

पर ये सब परिवर्तन प्रकृति की निर्माण-कला के ख्याल से छोटी बातें हैं। पचीस-तीस हज़ार वर्ष पहले उसने हमारी मातृभूमि का जो स्वरूप गढ़ दिया था आज भी वह प्रायः वैसा ही है।

हिमालय की देन

ध्यानमग्न योगिराज की मुद्रा। जप के लिये गले तथा हाथों में नदियों की मालायें। सनातन हिम-मुकुट में हजारों हीरों की चमक। जराहीन। सदा निर्भय। आदमियों की पहुँच के बहुत ऊपर।

ये गगनचुम्बी शानदार शृङ्ग अपनी महानता का सानी नहीं रखते। मालूम पड़ता है जैसे महादान करते रहना ही उन्होंने अपना आदर्श बना रखा है। हमारी मातृभूमि तथा हम स्वयं उनके बहुत बड़े ऋणी हैं।

मौसिम साफ रहने पर पचीसों कोस दूर से ही वे हमें दिखाई देते हैं। ध्यान से देखने पर पता चलता है कि एक के पीछे दूसरे खड़े गिरिशृंखल उत्तरोत्तर ऊँचा मस्तक उठाए हमें ही देख रहे हैं। उन शृंखलाओं का कहीं भी अंत होता नहीं दीखता। जहाँ उन्हें क्षितिज आलिंगन करता है वहाँ वे शाश्वत हिम से ढके रहने के कारण दूध से धुले दीखते हैं।

उन्हें देख कर ही हम पहचान लेते हैं कि हमारे सामने हिमालय है।

वे हमें बुलाते-से जान पड़ते हैं। उनकी ओर आगे बढ़ने पर हमें गिरिशृंखलाओं की ही सीढ़ियाँ मिलती हैं। शिवालिक पहाड़ियो जैसी उपत्यका-शृंखला पहली सीढ़ी रहती है। कांगड़ा कुल्लू की धौलाधार जैसी छोटी हिमालय-शृंखलाएँ दूसरी सीढ़ी बनती हैं। उन्हें पार कर जाने पर हम हिमालय की गर्भ शृंखला पर पहुँचते हैं। वहीं हमें बदरिकाश्रम मिलता है। और आगे बढ़ने पर हम लदाख शृंखला लांघते हैं। उसके आगे हमें कैलाश दिखाई देता है।

उस पर दृष्टि पड़ते ही हमारी आँखें चकाचौंध होने लगती हैं। हमें वहाँ विभिन्न मुद्राओं में स्वयं नटराज नृत्य करते-से दिखाई देते हैं। कहीं वे मुकुट पहने, कहीं जटा बढ़ाए और कहीं कन्धे और शरीर से 'सर्प' लिपटाए रहते हैं। उनके नृत्य के ताल मे बजने वाले यन्त्रो की झंकार भी हमें सुनाई देती है। बादलो का वस्त्र वे कभी अंग पर डालते, कभी हवा मे हिलाते और कभी अपने नीचे बिखेर देते हैं।

हम और दिशाओ में भी दृष्टि दौड़ाते हैं। अब हमें विश्वास हो जाता है कि हमारे देश के उत्तरी छोर पर एक सिरे से दूसरे सिरे तक सीमा निर्धारित करनेवाला हिमालय वास्तव में ही 'मर्यादा पर्वत' है। वह हमारी मातृभूमि का

सदा सजग रहने वाला सतरी है। खास-खास नाको पर वह अपना मस्तक पाँच साढे पाँच मील से भी ऊपर उठाए रखता है।

गरमी मे समुद्र से जो भाप बादल बनकर ऊपर उठती है वह भी हिमालय की आँख बचा हमारे देश की सीमा के बाहर नही निकल पाती। बादल चाहे जितना भी ऊँचा उठे हिमालय की महानता के सामने उन्हें हार मानना ही पडता है। उसकी अचल, अटल विशालता के सामने बादलो का दर्प चूर्ण हो जाता है। वे वर्षा के रूप मे आँसू टपकाते लोट पडते हैं।

कुछ बादल हिमालय की गोद मे बदी हो जाते हैं। उन्हे हिम के रूप मे परिणत कर पर्वत अपना मुकुट बना लेता है। यह मुकुट, उसका नगा पर्वत, केदारनाथ, नन्दादेवी, कैलाश, धौलगिरि, गौरीशकर, कचनजघा, जैसी चोटियो पर सनातन रहता है।

प्रकृति समुद्र और हिमालय को एक दूसरे पर बादल और वर्षा के रूप मे पानी उछालने और उडेलते रहने के जिस खेल के लिए प्रेरित किये रहती है, उसीसे हमारी मातृभूमि का तथा हमारा जीवन निर्धारित होता है। उसीसे हमारे यहा की सर्दी-गर्मी और बरसात की ऋतुओ का आविर्भाव होता है, हमारी खेती-बारी चलती है और हम जीवन के सुख उपभोग करने मे समर्थ होते हैं।

हिमालय के और कार्यों से भी उसके महादान का ही प्रयोजन सिद्ध होता है। गरमी पाकर जब उसके अंग का हिम पिघलता है तब उसका महान् आदर्श ही प्रवाह का रूप धारण कर लेता है। वे प्रवाह उस महादानी हिमालय का धन दोनों हाथों से बिखेरती जाने वाली नदियों के रूप में परिणत हो जाते हैं। वे नदियाँ हिमालय पर के 'नटराज' के नृत्य में संगति मिलाती निकलती हैं। सिन्धु और सतलज तबले के दाएँ बाएँ जैसी ध्वनि निकाल सृष्टि का ताल देती हैं। ब्रह्मपुत्र-नदी पत्थरों पर प्रहार दे डंके की चोट भरती है। यमुना और सरयू गोमती तथा गंगा को बीच में ले, गुन-गुन, छम्-छम्, झम्-झम् करती उतरती हैं। इनके साथ-साथ और भी जितनी धाराएँ हिमालय के मुकुट, जटा और शरीर से निकलती हैं उन सब के कलगान में हमारी प्राचीनतम अतीत-गाथा के साथ-साथ नए जीवन का संदेश भरा रहता है। ये नदियाँ ही अपने साथ हिमालय द्वारा दान की गई मिट्टी बहा कर लेती आती हैं जिनसे हमारे देश के विशाल मैदानों का निर्माण हुआ और आज भी हमारी भूमि ऊँची और उपजाऊ बनती है। उन नदियों का संदेश होता है—हमारे देश का कल्याण। वे ही हमारे खेतों को सींचतीं और अपने साथ-साथ हमारे लिए भी यातायात के प्रमुख रास्ते बनाती जाती हैं। हिमालय उन्हीं के द्वारा हमारे विभिन्न प्रदेशों को

शस्य-श्यामल और धन-धान्य-सम्पन्न बनाया करता है।

यदि सच मे देखा जाए तो हमारे देश के उत्तरी भाग के वे सब विशाल खादर प्रदेश जिनकी गिनती दुनिया भर के सबसे उपजाऊ और आबाद प्रदेशो मे होती है, हिमालय की ही देन हैं। उसके इन्ही गुणो के कारण महाकवि कालिदास ने उसे कहा है—'अनेक-रत्न-प्रभव'।

हमारी मातृभूमि को अद्भुत सौन्दर्य उसी हिमालय ने प्रदान किया है। इसका जीवन और यौवन भी उसकी ही देन है।

मातृभूमि का स्वरूप

प्रकृति सजाना भी जानती है। उसकी इस कला का चमत्कार देख कर अच्छे-से-अच्छे कलाकार को भी दंग रह जाना पड़ता है। आदमी प्रकृति की उन सजावटों की क्षुद्र नकल भर कर सकता है, अपनी कृति में उसकी तरह निर्माण वा वास्तविक प्राण प्रस्फुटित कर दिखलाना मनुष्य की क्षमता के वाहर की ही वात रह जाती है।

अपनी मातृभूमि के मानचित्र पर दृष्टि जाते ही हमें प्रकृति की यह सुन्दर कृति मुग्ध कर देती है। अपनी दृष्टि अत्यंत क्षुद्र एवं सीमित रहने के कारण प्रकृति के इस प्रकांड कौशल की पूरी झाँकी हम एक साथ एक ही दृष्टि में पा लेने में असमर्थ रहते हैं। इसके लिए हमें कल्पना का सहारा लेना पड़ता है।

थोड़ी देर के लिए यदि हम आकाश में उस ऊँचाई पर पहुँच सकें जहाँ से सारा भारत हमारे सामने की दृष्टि में आ

जाए और हमारी दृष्टि प्रकृति द्वारा निर्माण की गई इस देश के ढाँचे की सूक्ष्म बारीकियों को भी देख पाने में समर्थ हो सके, तो अवश्य ही हमें अपनी मातृभूमि के सौन्दर्य का थोड़ा आभास मिल सकेगा। उस ऊँचाई से वे हमें अपने पूर्ण विकसित सौन्दर्य में चिरयौवना दीखेंगी। उनके किसी भी अंग में कमनीयता का अभाव खटकता नहीं दिखाई देगा।

भारतमाता का सौन्दर्य वास्तव में जीवित-जागृत है। उनकी शक्ल और आकृति की रेखाएँ बहुत ही बारीक हैं। प्रकृति ने उन्हें तरह-तरह के वस्त्र पहनाने के बाद रंग-बिरंगे शाल-दुशालों से सुसज्जित कर रखा है। उन्हें किस्म-किस्म के रत्नजटित आभूषणों से सुशोभित करना भी वह भूली नहीं है।

हिमालय तथा उससे लगे हुए हमारे देश की पश्चिमी तथा पूर्वी सीमा पर के पहाड़ भारतमाता के कंधे और अंग पर पड़े शाल के समान हैं। माता के मुख-मंडल की दाहिनी ओर हिमालय से जुड़े हिन्दूकुश, सुलेमान और कीर्थल पर्वत का तांता अरबसागर तक पहुँचता है और वह माता के वक्षस्थल तक झूलते शाल के हिस्से-सा दीखता है। बाँई ओर यह शाल कई तह में पंद्रह सौ मील तक पड़ा रह कर फिर नीचे की ओर झूल पड़ता है। इस पूर्व दिशा में हिमालय से कंधा भिड़ाए नामकिऊ, पटकाई और आराकान योमा बंगाल की खाड़ी तक

लटकते हैं और माता के अंग का पहाड़ी शाल उनकी कमर तक पहुँचा देते हैं।

इस अनेक तह वाले विचित्र शाल के पाड़ो पर भी सुन्दर चूड़ीदार नक्काशी है। कंधे पर के ऊपरी हिस्से मे हिम-रेखा की सफेद धारी लगातार लगी चली गई है। उसमे मणि मुक्ताओ की धारी से भी कही अधिक चमक और पानी है। शाल की निचली तह तथा दोनों ओर लटकने वाले छोरों मे तुषाररहित पर्वतमालाओं की सुनहली-रुपहली, सब्ज तथा गेरुए रंग की धारियाँ हैं।

उस शाल की तह की एक पतली नीली धारी सिन्धु और ब्रह्मपुत्र की धाराएँ बनाती है। कैलाश से ये दोनों दो विपरीत दिशाओं में सात-आठ सौ मील की यात्रा कर एकाएक दक्षिण की ओर मुड़ जाती हैं। जहाँ इन दोनों नदियों की मोड़ें हैं उन्हें ही आधुनिक विद्वान हमारे देश की पश्चिमी और पूर्वी सीमा मानते हैं।

इस मनोहर धारीदार शाल-आवरण के नीचे सुन्दर ढंग से सीटा हुआ भारतमाता का सब्ज रंग का दामन है। इस दामन के रंग का ही उनका आँचल भी है, जिसके एक खूँट पर काठियावाड़ और सिन्ध हैं तथा दूसरे पर बंगाल। आँचल का यह दूसरा खूँट जहाँ पर समाप्त होता है वहाँ उसमें सुन्दर-वन भालर की तरह लगा दीखता है। मातृभूमि का यह दामन

और आँचल उत्तर भारत के सारे खुले विस्तृत मैदान से बना है। यहाँ की हरियाली क्षितिज से मिली रहती है। इस आचल को प्रकृति जितने यत्न और कौशल से सदा हरा भरा बनाए रख सँवारा और लहराया करती है, पृथ्वी के और विरले ही किसी भाग के मामले मे उसका वैसा अनुग्रह दिखाई देता है।

भारतमाता के कटि पर विन्ध्य-मेखला कमरबंद की तरह लगा है। अरवली और सातपुरा पहाड़ इस मेखला के ही बढ़ाव हैं। इनकी शृखलाएँ पश्चिम मे आबू से लेकर पूर्व में पारसनाथ तक चली गई हैं। उत्तर मे उनका विस्तार गगा-काँठे तक और दक्षिण में ताप्ती और महानदी की धारा तक है। माता के इस कटिबंध प्रदेश का सौन्दर्य एक और ही ढंग का है। यह खेती की उपज मे उत्तरी अचल का मुकाबला नही करता पर जगल और खानों की उत्पत्ति मे विशेष महत्त्व रखता है। शाल, टीक और बाँस के वनो का यहाँ बाहुल्य है। इसके सिवा इस प्रदेश मे छोटी छोटी झाड़ियों की भरमार है। जब उनके खिलने का समय होता है, उनमे इतने भाँति के फूल लगते हैं कि उनके रगों की बहार दर्शनीय हो जाती है। यहाँ के जिस अचल मे कपास की खेती होती है उसमे भी कम सौन्दर्य नहीं रहता। नीचे भूमि पर यदि बिना पत्तों के पौधों पर कपास खिला रहता है तो उनके ऊपर मखमली पत्तो से

सुसज्जित पलाश के गुच्छे हमेशा गुलाबी चँवर डुलाने से दिखाई देते हैं।

हिमालय की तरह विन्ध्य की पहाडी शृखलाएँ बराबर धारियो वाली नहीं हैं। बहुत ऊँचे से देखने पर इसकी शृखलाएँ समुद्र की लहरो को तरह लहराती दिखाई देंगी। पर्वत की उस भाँति समुद्र बनने की चेष्टा उसमें अद्भुत प्राण ला देता है और विन्ध्य का अपना निजो ढग का सौन्दर्य अद्वितीय बना देता है।

विन्ध्य-मेखला से दक्षिण के प्रदेश भारतमाता के कटि से लेकर तलवे तक का निचला भाग बनाते हैं। पश्चिम में कोंकण और केरल प्रदेशों की सब्ज साडी की तह से ढँके पश्चिमी घाट और पूर्व में नदियों के मुहानों से उर्वरा बने अंचलो के साथ पूर्वी घाट की शृखलाएँ एक दूसरे के निकट आते आते नीलगिरि पर मिल गई हैं। इस मेल से बना ऊँचा प्रदेश मैसूर है। इसके दक्षिण का प्रदेश—केरल तथा चोल-मडल के बीच का मलय पर्वत भारतमाता के चरण के समान है।

उसके दक्षिण, हमारे देश का सब से अन्तिम दक्षिणी छोर कन्याकुमारी का अंतरीप माता के अंगूठे के समान है। यहाँ पहुँच जाने पर हम सचमुच अपने को माता के चरणों मे बैठा पाते हैं। हमारे चारो तरफ अगाध जीवन निखरा है।

नारियल और असख्य तालवृक्षों से समुद्र-तट सुसज्जित है। यहाँ ही हमारे देश की हरियाली समुद्र और आकाश की नीलिमा से मिलकर अद्भुत सौन्दर्य सृष्टि करती है। यहीं अरबसागर और बंगोपसागर का संगम है। ये दोनो हमारी मातृभूमि के युगल चरण कमलो की सतत पूजा करते रहते हैं।

मातृभूमि के उन्हीं पाँवों के पास सिंहलद्वीप कमल की कली की तरह खिला दीखता है। रामेश्वरम् के आगे सेतुबध की चट्टानों का सिलसिला इस द्वीप तक लगा है। इस कमल-कली सरीखे सिंहल को भी प्रकृति का प्रचुर दान मिला है। वह हमारी मातृभूमि का काव्यमय सौन्दर्य परिपूर्ण बना देता है।

हमारे देश का दक्षिणी भाग सुहावना रहने के साथ-साथ कई दृष्टि से बड़े महत्त्व का है। उत्तर भारतीय मैदान की तुलना में इस अचल के मैदान अवश्य ही बहुत छोटे हैं, फिर भी उनके कई अश बड़े उपजाऊ हैं। दक्खिनी हिस्से के मध्यभाग—बरार और खानदेश की काली मिट्टी कपास की खेती के लिए आदर्श मिट्टी है। कोंकण और केरल के प्रदेश भी सदा हरे-भरे रहने वाले हैं। मौनसून के महीनों मे अरब सागर का जो पानी भाप बन कर चलता है वह पश्चिमी घाट के पहाड़ो से टकरा कर पीछे लौट आता है और वहीं कोकण

तथा केरल प्रदेश को हरे-भरे बाग का स्वरूप दे देता है।

जहाँ तक भूभाग के रमणीक होने का प्रश्न है, भारत के दक्षिण-पश्चिम कोने में बसा केरल प्रदेश अतुलनीय है। यहाँ के झील, नदी और हरे-भरे पहाड़ों पर इन्द्रधनुष बड़े ही मनोरम रंग-बिरंगे खेल दिखाया करता है। नारियल और केले के सिवा लौंग, इलायची आदि मसालों के हरे-भरे पौधों का अपना निजी सौन्दर्य हमें यहीं दिखाई देता है। इनके पड़ोसी–मलयगिरि पर के चंदन और कपूर के जंगल अपना सुवास चारों तरफ फैलाते रहते हैं। जब हम चाँदनी रात में यहाँ की झीलों को पार करते हुए आगे बढ़ते हैं और हमारी नाव पेड़ों से घिरे दोनों किनारों के बीच से निकलती है तो हमें वह सब एक तरह का सुन्दर स्वप्न सा लगने लगता है।

चोल मंडल तट को भी उपजाऊ बनाने में प्रकृति ने कुछ उठा नहीं रखा है। दक्षिण भारत की सब प्रधान नदियों का मुहाना इसी तट पर है। उन नदियों से जो मिट्टी पड़ती है उससे यहाँ की उर्वरा-भूमि बनती है और वह उन्हीं नदियों के जल से सिंच कर खेतीबारी के लिए आदर्श जमीन बन जाती है। दक्खिन-पश्चिमी मौनसून का यहाँ अवश्य ही अभाव है पर यह कमी उत्तर-पूर्वी झोंके से पूरी हो जाती है। वह झोंका दिसंबर-जनवरी के महीने में इस प्रदेश के लिए तरावट लेकर हिमालय से उतरता है। वही तरावट यहाँ के धान की

पैदावार मे सहायक होता है और अनेक किस्म के तालवृक्षो से इस अंचल को सुशोभित किए रहता है।

इसके सिवा कीमती धातुओ की उत्पत्ति के खयाल से भी दक्षिण बहुत अधिक महत्त्व रखता है। यही की खानो की उत्पत्ति के कारण एक जमाने में भारतवर्ष की ख्याति समृद्धि और धनराशि के मामले मे समुद्र-पार के बहुत से देशों तक फैली हुई थी। सारे ससार मे विख्यात हीरे गोलकुण्डा की खानो से अब नहीं निकलते, पर मैसूर रियासत स्थित कोल्हार की सोने की खानें आज भी प्रसिद्ध हैं। भारत माता के इन सुवर्ण आभूषणो से हमारी माताएँ और बहिनें बहुत दिनो से अपना अंग सजाती आ रही हैं।

इस भाँति जब हम एक दृष्टि मे ही अपनी मातृभूमि का पूरा स्वरूप देखने की चेष्टा करते हैं तो वे हमे एक विशेष मुद्रा में खड़ी दीखती हैं। उनका उज्ज्वल मुख-मडल कान्ति और तेज से ओतप्रोत है। पामीर के पठार से बना शुभ्रतुषार का मुकुट उनके माथे पर सदा विराजमान रहता है। उनका दाहिना हाथ हमे अभय देता और बाँया हमें आलिंगन कर उपहार देने की मुद्रा मे खुला दीखता है। गगा के मुहाने पर की जलधाराएँ उनके उपहार देने वाले हाथ की उँगलियाँ जैसी मालूम पड़ती हैं। उनके चरण समुद्र में खिली 'कमल कली' छूते रहते हैं।

हमारी मातृभूमि के इस सौन्दर्य की स्तुति में ही रवीन्द्रनाथ ने गाया है :—

अयि भुवनमनमोहिनी
जगत जननी जननी—
नील सिन्धु-जल धौत चरण तल,
अनिल विकंपित श्यामल अंचल,
अंबर चुंबित भाल हिमाचल,
शुभ्र - तुषार किरीटिनी।
प्रथम प्रभात-उदित तव गगने,
प्रथम साम-रव तव तपोवने,
प्रथम प्रचारित तव वन भवने,
ज्ञान, धर्म, श्रुति, नीति, काहिनी॥
अयि भुवनमनमोहिनी
जगत जननी जननी—
चिर . कल्याणमयी तुमि धन्य,
देश - विदेशे वितरिछ अन्न
जाह्नवी-यमुना विगलित करुणा,
पुण्य पियूष-स्तन्य वाहिनी।
अयि भुवनमनमोहिनी
जगत जननी जननी—

ने ही प्रमुख रास्ते तैयार किये और हमारे प्रसार की दिशा निर्धारित की। आज भी उनके ही उमडते शीतल प्रवाह मे अवगाहन कर हम प्राणों का नया स्पदन पाते हैं।

अपने देश के इन जीवन-स्रोतों की अमरदेन की जानकारी के लिए उनके प्रवाह के साथ चल कर उनसे विशेष परिचय कर लेना आवश्यक है। उनके उद्भव-स्थान की यात्रा करते समय हमें अपने सामने दिखाई देते हैं—हिम के सफेद शाल अंग पर डाले पहाड। उनके शिखर सैकडों शताब्दियों से इस विश्व का रहस्य समझने की चेष्टा करते-से जान पडते हैं। पिघली चाँदी की तरह चमचमाती धाराएँ उन्हें नमस्कार कर लौट रही हैं। वे कलकल, गुनगुन करती तरह-तरह के नृत्य-कौशल दिखाती चलती हैं। उनके प्रत्येक पग पर अद्भुत ढग की लचक और नए किस्म की मुद्रा प्रदर्शित होती है। जगह जगह चीड और शाल उनकी प्रतीक्षा मे खडे रहते हैं। जब धाराएँ उनके निकट पहुँचती हैं तो वे उन्हें अपने बगल से रास्ता दे देते हैं। कितनी धाराएँ ही उनकी परिक्रमा कर आगे बढती हैं। रास्ते में उन्हें जहाँ और धाराएँ मिलती हैं या वे झील के बीच से अपना रास्ता बनाती हैं वहाँ का दृश्य कल्पना-जगत के चित्र की भाँति मनोरम बन जाता है। वहाँ पर नदी का स्वच्छ जल स्फटिक की तरह चिकना और स्निग्ध बन जाता है। आकाश चूमने की चेष्टा करने वाले शिखर उसी

में अपने सौन्दर्य का प्रतिबिंब देख स्वयं स्तब्ध हो खड़े रह जाते हैं।

जो प्रदेश इन नदियों द्वारा सौभाग्यवान् बनते हैं वहाँ असल में ही प्रकृति सौन्दर्य उड़ेलते रहने में हमेशा से बड़ी शाहखर्च रही है। वैसे ही एक अंचल के संबंध में रवीन्द्रनाथ ने कहा है—

'मालूम पड़ता है, यहाँ स्वप्न में सृष्टि कुछ बोलना चाहती है, पर स्पष्ट बोल नहीं पाती, सिर्फ उसकी अव्यक्त ध्वनि अंधकार में गूँज उठती है।'

शब्दहीन सुर। यही है उस अञ्चल की वास्तविक रागिनी।

हमारे देश में वैसे बहुत से अंचल हैं जहाँ हमें अपने जीवन-स्रोतों की वैसी रागिनी सुनाई देती है। उनमें एक—सिन्धु तथा उसकी सहायक नदियों का पानी हिमालय से निकल कर भारत माता के आँचल के पश्चिमी भाग को दक्षिण-पश्चिम दिशा में लहराता तथा हमें जीवन का गान सुनाता चलता चला जाता है।

अठारह सौ मील लंबी सिन्धु हमारे देश की सबसे बड़ी नदी है। इसकी गणना संसार की एक दर्जन बड़ी नदियों में होती है। यह अपने कैलाश के उद्भव-स्थान से निकल कर उत्तर-पश्चिम दिशा में हिमालय की पश्चिमी सीमा तक की

यात्रा कर सहसा दक्षिण की ओर घूम पड़ती है। इसके इस घुमाव पर का दृश्य अद्वितीय है। यदि हम उसके दाहिने तट पर खड़े हों तो हमें उसके हिमालय की गोद में खेलने का बड़ा ही अलौकिक दृश्य दिखलाई देगा। वह चंचला की नाईं उमंग में उछाल मारती आती है और बड़े-बड़े पत्थरों को अपने बाहुपाश में ले साथ ले जाना चाहती है। पत्थर अड़े रहते हैं। नदी गुस्से में आ उन पर गरजती है, उन्हें झकझोरती है, उन पर इठलाती है, और तब नृत्य करती हुई वेग से आगे निकल जाती है। उसकी बगल में सदा शांत मुद्रा में चार मील ऊँचा सर उठाए नंगा पर्वत नदी का यह खेल बहुत दूर तक देखता रहता है।

उस घुमाव से चल कर सिन्धु अपने आगे के दो सौ मील का रास्ता पहाड़ों को ही काट कर बनाती है। फिर इसमें अफ़गानिस्तान की ओर से आकर काबुल और कोहाट नदियाँ मिल जाती हैं। तब सिन्धु खुले मैदान में उतर आती है। यहाँ हमें उसकी और सहायक नदियों की पाँच बाँहें फैली दीखती हैं। इसी प्रदेश का नाम पंजाब है। फिर आगे चल कर समूचा पानी सिमट कर एक धारा में मिल गया है। वहाँ से सिन्धु के समुद्र में मिल जाने तक का प्रदेश सिन्ध कहलाता है।

सिन्धु की ही तरह उसकी सहायक नदियाँ भी अपनी उपरली दूनों में बार-बार चक्कर लगा उस प्रदेश की भूमि पर

अद्भुत रमणीक कसीदा काढ़ा करती हैं। कश्मीर अंचल को झेलम ने ही संसार के सब प्रदेशों की रानी सजाया है। उसके पूर्वी अंचल में पश्चिमी हिमालय की गर्भ शृंखला की एक बाँही में ही झेलम का उद्भव-स्थान है। उसके वहाँ से निकलते ही उसके दक्खिन-पूर्वी स्रोत पर अमरनाथ शृंखला उसे घेर रखने की चेष्टा करती है। झेलम उससे छिटकती चलती है। अपनी बचाव की चेष्टा में उसे अनगिनित चक्कर लगाने पड़ते हैं। कश्मीर की चौरासी मील लंबी और पचीस मील चौड़ी दूनको चारों तरफ से घेर हिमालय की भीतरी शृंखला के पहाड़ खड़े रहते हैं, पर झेलम उत्तर-पश्चिम दिशा में अपना रास्ता बनाती आगे ही बढ़ती चली जाती है।

कश्मीर की राजधानी—श्रीनगर पहुँचने पर वह नगर के घेरे की परिक्रमा करती है और अपने आँचल से वहाँ के मंदिरों की सीढ़ियाँ धोती है। वूलर झील पहुँचने पर उसका सौन्दर्य और भी परिपूर्ण हो उठता है। हिमालय की भीतरी शृंखला के हर मुकुट और काजनाग पहाड़ बहुत निकट आ उसमें झाँकी लगाते हैं। पर उसे रोकने की चेष्टा करने के बजाय वे एक ओर खड़े रह जाते हैं। उनकी गोद में बिना विश्राम किए ही झेलम इठलाती हुई अपनी दिशा बदल चल देती है। बरामुला के पास पहुँचने पर उसे अपने आगे का रास्ता बहुत संकीर्ण हो गया दीखता है। यहाँ चारों तरफ के

की नीली आँखों के समान दिखाई देती है। उन्हीं शीतल आँखों से हिमालय अपनी पुत्री चन्द्रा के जीवन की प्रगति देखता और उसकी सौभाग्य-कामना करता रहता है।

चन्द्रा और उसके साथ की एक और नदी—भागा, जिस प्रदेश को आबाद करती हैं उसका नाम लाहुल है। ये नदियाँ जहाँ एक हो जाती हैं वहाँ से उनका नाम चन्द्रभागा पड़ जाता है। यही चनाब का पुराना संस्कृत नाम है। पंजाब की नदियों में चनाब अपेक्षाकृत उत्तरी है। झेलम और चनाब के बीच कश्मीर की जो उपत्यका पड़ती है प्राचीन काल में उसी का नाम अभिसार था।

चनाब की उपरली दून से लगी दक्षिण-पूर्व में रावी की दून है। इसी दून में चंबा प्रदेश बसा है। जब हम उसकी झाँकी लगाते हैं तो अपनी हरियाली के सौन्दर्य से वह हमें ऐसा मुग्ध कर देती है कि उसकी तुलना में हमें आदमियों द्वारा लगाये सुन्दर से सुन्दर बाग भी बड़े तुच्छ दीखने लगते हैं। इस अंचल में प्राकृतिक सौन्दर्य की कसौटी ऐसी उच्चकोटि की दीखती है कि उसको समझने के लिए हमारी अपनी तैयार की गई सब कसौटियाँ, सौन्दर्य संबंधी हमारे सब आदर्श किसी काम के भी नहीं जँचते।

व्यास भी ठीक उसी कोटि की सौन्दर्य-सृष्टि करती है। उसका उद्भव-स्थान रोहटाँग की जोत है। चन्द्रा के

बारालाचा जोत से जो शृंखला दक्खिन घूम गई है उसी मे रोहटाँग की जोत पडती है। लाहुल प्रदेश का यही प्रवेशद्वार है। कहा जाता है कि पाडवो के 'स्वर्ग' का रास्ता यहाँ से ही होकर जाता था।

और घाटियों के समान ही रोहटाँग की जोत भी हिमालय-शृंखला की रीढ पर है। इस रीढ के बिचले हिस्से में ही व्यास का उद्गम-स्थान है। उस स्थान पर कई शिलाएँ हैं। लोगों का कहना है कि व्यास ऋषि ने—जो महाभारत युद्ध के समय हुए थे, उन्ही शिलाओं पर बैठ कर समूचे वेद की सहिताएँ बनाई थी तथा महाभारत के साथ-साथ और भी बहुत से महान् ग्रन्थों की रचना की थी।

आज भी जब हम उन शिलाओ पर खडे होते हैं तो हमारे पीछे की दुनिया—'मर्त्यलोक' असल में ही बहुत पीछे छूट गई दीखती है। उत्तर की ओर हमारे सामने के पहाड पर बरफ का एक चौडा और अत्यन्त ही चिकना रास्ता दिखाई देता है। बहुत दूर आगे जाकर वह रास्ता क्षितिज से मिल गया है। रात के समय उस रास्ते के ऊपर जब आकाश-गगा दिखाई देती हैं तो मालूम पडता है, मानो उस रास्ते ने उस गगा की धारा से ही अपना नाता लगा रखा है।

जिन शिलाओं पर खडे हो हम उत्तर का वह 'स्वर्ग-सोपान' देखते हैं उन्हीं के नींचे से निकलने वाली व्यास के

हृदय की धडकन भी हमें सुनाई देती है। उसका स्रोत पकड हम थोडी दूर नीचे उतरते हैं तब हम उसका अट्टहास सुनाई देने लगता है। शायद वह हमारे मर्त्यलोक की छोटी-मोटी चिन्ताएँ और हमारे हर्ष तथा शोक को उस ऊँचाई से देख कर ही इस भाँति हँस पडती है।

व्यास स्वय हमें सात्वना देने और सुखी बनाए रखने के लिए ही बहुत उतावली दीखती हैं। शायद इसी कारण वे स्वर्ग का सदेश साथ ले बडे 'वेग से नीचे उतरती हैं। एक साथ ही कई सीढियाँ लाघती वे अपने पहले पाँच मील के ही उतार में लगभग छ हजार फीट नीचे चली आती हैं।

व्यास का उपरला स्रोत लाहुल के दक्खिन और चबा क पूरब-दक्खिन कुल्लू के अत्यन्त रमणीक प्रदेश की सृष्टि करता है। फिर वह नदी धौलाधार की शृखलाओ क घिराव से बचने की चेष्टा मे बहुत-से चक्कर लगा मडी और कॉगडा-प्रदेश पर हिमालय से लाया सौन्दर्य बिखेरती और पजाब के उत्तर-पूर्वी अञ्चल को उर्वरा बनाती सुलतानपुर के पास सतलज से जा मिलती है।

सतलज सिन्धु प्रणाली की नदियो मे सबसे पूर्वी है। इसकी लबाई नौ सौ मील है। सिन्धु और ब्रह्मपुत्र के उद्गव के निकट ही कैलाश पर्वत पर इसका स्रोत आरभ होता है। वहाँ से यह थोडी दूर उत्तर-पश्चिम दिशा ले फिर

निश्चित रूप से दक्खिन-पश्चिम की ओर घूम पडती है। अपने रास्ते में इसे हिमालय की शृखलाओ से बहुत ही जटिल सग्राम लेना पडता है। उसके रास्ते में जितने ही विकट अडगे आते हैं सतलज उनसे उतने ही दूने उत्साह से 'गर्जन' कर उन्हे विदीर्ण करती आगे आती है। स्थान-स्थान पर इसने चार हजार फीट की गहराई तक पहाडों की रीढ काट कर अपने आगे बढने का रास्ता निकाला है। वैसे स्थानों पर दोनो तरफ के पहाड आरे से खडे काट दिए गए से दीखते हैं।

सतलज को ही हम प्राकृतिक दृष्टि से पजाब की पश्चिमी सीमा मान .सकते हैं। जहाँ इसमे स्पीती नदी की दून खुली है वह प्रदेश कनौर वा बशहर कहलाता है। इसे ही कई विद्वान् प्राचीन किन्नर देश बतलाते हैं। सतलज स्वय सुकेत प्रदेश आबाद करती शिमला को बाँई ओर छोड रामपुर में आकर समतल भूमि पर उतर आती है। यहाँ से वह पश्चिम दिशा लेती है। सुलतानपुर में व्यास, जलालपुर में चनाब उससे आ मिलती हैं। तब मिट्ठनकोट में सतलज स्वय सिन्धु में मिल जाती है। प्रशस्त भारतीय मैदान के पश्चिमी अचल में दक्खिन-पश्चिम रुख ले बहनेवाली यह सतलज ही सिन्धु की आखिरी सहायक नदी है।

हिमालय से निकलने वाली इन सब नदियों का हमारे जीवन को सुखी और उन्नत बनाने में बहुत बड़ा हाथ है। वे

हमारे दैनिक उपयोग के लिए बहुत से सुन्दर प्रकार के अन्न तथा फल जुटा देती हैं। साथ ही वे अपने अञ्चल के निवासियो को भी अपने निजी उदाहरण से बहुत सी वास्तविक जीवन मे काम आने वाली शिक्षाएँ देती हैं।

कश्मीर के निवासियो ने अपने यहाँ की नदियो से बहुत कुछ सीखा है। उनकी जन्म-भूमि मे उनकी नदी सौन्दर्य की जैसी रेखाएँ आँकती चलती है, अपने यहाँ की शतरंजी तथा शालदुशालो पर उन्होंने उसका वही इतिहास अकित करने की चेष्टा की है। उसी चेष्टा म उनकी कारीगरी और सौन्दर्य की परख ससार म अद्वितीय बन गई है।

दैनिक सघर्ष के बीच रह कर भी अपनी ही तरह सुन्दर गान और नृत्य का आनद उठाने की प्रेरणा विभिन्न प्रदेशो के निवासियो को अपने अचल की नदियो से ही मिली है। विशेषकर कश्मीर और कुल्लू निवासियो क सुन्दर 'जननृत्य' मे उनके यहाँ की नदियाँ ही अदर्श रहती हैं। उन नदियो के घुमाव पर की लचक का ही वहाँ के निवासी अपने शरीर की मुद्राओ द्वारा दिखलाते हैं, उन धाराओ का कल्याणकारी सघर्ष और दान करने का आदर्श ही नृत्य के समय लोगो की भाव-भगिमाओं में व्यक्त होता है। अपने गान में भी उन अचलो के निवासी अपने यहाँ की नदियो के ही अनोखे सुर की आवृत्ति करने की चेष्टा करते हैं।

पावन-धारा

प्रकृति ने गंगा को सब दृष्टि से सुरक्षित, सर्वांगसुन्दर और पल्ले सिरे की परोपकारप्रिय बना रखने की चेष्टा की है। मालूम पड़ता है जैसे यही उसकी सबसे लाड़ली कन्या हैं। उसने इन्हे सिर्फ अलौकिक सौन्दर्य ही प्रदान नहीं किया है बल्कि धीर, गंभीर बना अनेक गुणों से आभूषित कर रखा है।

वही गगा अपनी सब सखियों के साथ हमारी मातृभूमि के दक्षिण-पूर्वी अचल पर सतत श्यामल रंग चढ़ाती रहती हैं। इसी अंचल मे पूर्वा का जोर अधिक रहने के कारण यहाँ की हरियाली सिन्धु अचल की अपेक्षा गहरी रहती है। और कई दृष्टि से भी यही अचल हमारे देश मे सबसे अधिक प्रधानता रखता आया है।

जिन आदर्शों को लेकर हिमालय इतना ऊँचा उठा है शायद उसका असली अनत भंडार उसके मध्य भाग मे ही केन्द्रीभूत है। यहाँ से ही मूर्त विषयो की उन्नति तथा अमूर्त

चिंतन के लिए आवश्यक सब तरह की सामग्री गंगा अपने प्रवाह में लेकर चलती हैं और उन्हें गंगोत्री से गंगासागर तक विखेर देती हैं। इनकी धारा से ही आर्य-जाति के जीवित और प्राणपूर्ण बनाए रखने की चेष्टाओं का सूत्रपात होता रहा है। इसी कारण गंगा के विषय में यहाँ तक माना जाता था कि महापुरुष, विद्वान, शूरवीर और धनी जब उत्पन्न होंगे तो उसके द्वारा सींचे गए प्रदेशों में ही। सिर्फ सांसारिक ही नहीं, आध्यात्मिक शक्तियों का उद्दीपन करनेवाली भी इसी की धारा मानी जाती रही है। इस संबंध में अन्वेषण करने के वाद आयुर्वेद मे कहा गया है—

'तृष्णा-मोह-ध्वंसनं दीपनंच।
प्रज्ञां धत्ते वारि भागीरथीयम्॥'

"भागीरथी का जल तृष्णा और मोह का ध्वंस करने-वाला, दीप्ति प्रदान करने तथा प्रज्ञा प्रेरित करने वाला है।"

गंगा के अद्भुत आकर्षण का ही यह परिणाम हुआ है कि उसका माहात्म्य अन्य सब नदियों से बढ़ा चढ़ा है। हिन्दुओं में यह दृढ़ विश्वास है कि गंगा इस लोक में अभ्युदय और मृत्यु के उपरांत मोक्ष देती हैं। गंगा, गंगा कहने से ही मृत्युलोकवासी सद्‌गति प्राप्त करते हैं।

हिमालय से निकलते समय गंगा की कई धाराएँ रहती हैं। उनका उद्भवस्थान भी हिमालय की विभिन्न शृंखलाओं

मे रहता है। इनकी सबसे पश्चिमी धारा का नाम भागीरथी है। इसका स्रोत हिमालय की गर्भ शृंखला में गंगोत्री से निकलता है। पर यह गंगा की गौण-धारा है।

भागीरथी की उपरली शाखा जान्हवी है। उसका स्रोत हिमालय की गर्भ शृंखला के और ऊपर जङ्स्कर शृंखला में है। ऐसा समझा जाता है कि वैदिक काल मे जन्हु नामक राजा ने गंगा से एक नहर निकाली थी। यह नहर अवश्य ही संसार की सबसे पुरानी नहरो मे रही होगी। जन्हु के उसी प्रयत्न की याद में गगा का एक नाम—जान्हवी अब भी चलता है।

हिमालय की गर्भ शृंखला और जङ्स्कर शृंखला के बीच में ही विष्णुगंगा और धौलीगंगा की दूनें हैं। विष्णुगगा दून के सिरे पर बद्रिकाश्रम है। ये दोनों गंगाएँ हिमालय के ठीक गर्भ में—जोशीमठ पर मिली हैं। ये ही दोनो उस अलखनंदा की मूल शाखाएँ हैं जो गंगा की मूल धारा है। गगा की सबसे पूर्वी धारा पिंडर है। भागीरथी से पिंडर तक की गगा की सब धाराओ का प्रदेश ही गढ़वाल कहलाता है।

गगा की चर्चा में यमुना अनिवार्य रूप से आ जाती हैं। ये दोनो सगी बहन जैसी हैं। यमुनातट कृष्ण की लीला भूमि रही है। उनकी कोई भी क्रीड़ा बिना यमुना के अपूर्ण रहती है। इसलिए भारतीय साहित्य, काव्य और कविताओ में

जितने रूपों में यमुना का सौन्दर्य वर्णन किया गया है और किसी भी नदी का नहीं हुआ है। कृष्णकेलि के साथ जुड़े रहने के कारण भारतीय नृत्य, गान और चित्रकला के क्षेत्र में भी यमुना ही आदर्श पटभूमि रहती आई है। उसके किनारे पर के कदंब जैसे वृक्षों के सौन्दर्य की ख्याति तो दूर रही करील के काँटे भी अमरत्व प्राप्त कर चुके हैं।

यमुना का उद्भव स्थान—यमुनोत्री गंगा के उद्भव स्थान—गंगोत्री से अधिक दूर नहीं है। ये दोनों बहनें हिमालय की पास-पास की चोटियों से ही नीचे उतरती हैं। यमुना गगा से कुछ दूर बहुत कुछ उसकी धारा के समानान्तर ही बहती हैं। फिर यह अन्तर धीरे-धीरे कम होता जाता है। यमुना ८६० मील की यात्रा कर लेने के बाद प्रयाग में अपनी बड़ी बहन गंगा के आँचल में समा जाती हैं।

बद्रिकाश्रम, गंगोत्री और यमुनोत्री की यात्रा हर साल हजारों यात्री किया करते हैं। अपने ऊपरी अंचल में गंगा-यमुना बहुत साधारण सोते सी दीखती हैं। हिमालय की लंबी-लंबी भुजाएँ उन्हें अपनी तलहत्थी पर ले खेलाती मालूम पड़ती हैं। सब तरह की विघ्नबाधाओं को नष्ट करने की शक्ति उनमें आ जाने तक पहाड़ों के और शृंखल भी उन्हें सुरक्षित रखने के ख़याल से संतरी की तरह पहरा देते रहते हैं। जब उनकी धाराएँ पुष्ट होने लगती हैं तो वे पहाड़ दूर हटने लगते

हैं। उनकी जगह चीड़ के वृक्ष गंगा तट को श्यामल रंग देने के लिए आ जाते हैं। वे गंगा-यमुना के लिए चँवर धारण किये से खड़े रहते हैं।

इस प्रकार अपने उद्भव स्थान से लगभग दो सौ मील की यात्रा कर लेने पर गंगा ऋषिकेश हरिद्वार पहुँचती हैं। यमुना उनसे कुछ दूर पश्चिम रहती हैं। यहां हिमालय उन्हें आखिरी विदाई देता है। फीके रंग की नीलम सी इन नदियों की स्वच्छ धाराएँ दक्खिन पूर्व के मैदानों की ओर घूम पड़ती हैं।

गंगा-यमुना का यह घुमाव ही उन्हें *सिन्धु प्रणाली* की नदियों से अलग करता है। इन दोनों के बीच एक ऊँचा जल-विभाजक है। उसी के सीना ऊँचा कर रखने के कारण सतलज और यमुना एक दूसरे से हटती गई हैं। यह तन कर खड़ा हो जाने वाला क्षेत्र उत्तर में कुरुक्षेत्र का बांगर है।[५] इसके दक्षिण में राजपुताना के पहाड़, जंगल तथा मरुभूमि आ गए हैं। सिन्ध काठे से गंगा कांठे में जाने के लिए इन दोनों के बीच का प्रदेश पार करना बहुत दुष्कर होता है। इसलिए इन दोनों कांठों के बीच एकमात्र सुगम रास्ता कुरुक्षेत्र-पानीपत के तंग बांगर से ही होकर रह जाता है। इसी कारण हमारे देश की अनेक भाग्य-निर्णायक ऐतिहासिक

---

५. जहाँ नदियाँ नहीं पहुँच पातीं उस सूखी जमीन को बांगर कहते हैं।

लड़ाइयां यहीं पर हुई हैं। दिल्ली ही गंगा-यमुना कांठे के प्रवेशद्वार की देहली है।[६]

गंगा-यमुना के बीच का प्रदेश दोआब कहलाता है। यही ठेठ हिन्दुस्तान या अन्तर्वेद है। सिर्फ अन्न की उपज के लिए ही नहीं बल्कि महान् भारतीय-संस्कृति के उद्भव तथा निर्माण में इस प्रदेश का बहुत बड़ा हाथ रहा है। यहाँ से ही जिस उर्वरा अंचल का आरंभ और पूर्व की ओर विस्तार होता गया है, मालूम पड़ता है उसी की रक्षा की प्रकृति को सबसे अधिक फिक्र रही है। उसने इस प्रदेश की बड़े ही सुन्दर ढंग से किलाबंदी की है। उत्तर की ओर से आने के लिए नदियों द्वारा हिमालय की रीढ़ में डाले गए दरार के रास्ते बड़े ही दुर्गम हैं। इस रास्ते से पहाड़ी पशुओं की पीठ पर सामान लाद साहसी लोगों का छोटा सा जत्था यात्रा कर सकता है, पर हिमालय और तिब्बत के आरपार के रास्ते दूसरे देशों के साथ घना संबंध नहीं जोड़ा जा सकता। हिमालय के उस पार भी लंबा चौड़ा और बीहड़ तिब्बत का पठार है। इस ओर की प्रकृति द्वारा तैयार किए गए जबर्दस्त क़िलेबंदी का ही यह परिणाम हुआ है कि उस ओर से गंगाक्षेत्र

---

६ मैदान में किसी नदी के दोनों तरफ़ की भूमि को कांठा कहते हैं और वही यदि पहाड़ में घिरा हो तो उसे दून कहते हैं। अंग्रेजी में दोनों का ही नाम Valley (वेली) है।

पर कोई भी फौजी हमला संभव नहीं हो पाया है।

गंगातट को ही सबसे निरापद स्थान मान आर्यों ने भी यहीं अपनी महान् संस्कृति के बड़े-बड़े केन्द्र स्थापित किए थे। हिमालय से उतरने वाली गंगा की धाराओं के संगम के ठिकानों को ही प्रयाग कहते हैं। ऐसे ही ठिकाने नन्दप्रयाग, देवप्रयाग, रुद्रप्रयाग आदि हैं। ऐसे ही एक प्रयाग में आर्यों के एक प्रमुख जत्थे ने सप्तसिंधव से चलकर अपनी पहली बस्ती बसाई थी। उस स्थान पर टिक जाने पर गंगा का पावन पड़ोस उन्हें सबसे अधिक प्रभावित करने लगा। इस समय से एक अर्थ में गंगा ही उनके उन्नति की ओर अग्रसर होने की पथ प्रदर्शिका बनीं। इसी के परिणाम स्वरूप आगे चल कर आर्यों ने उस महान् संस्कृति का निर्माण किया जो आज भारतीय-संस्कृति कही जाती है। हरिद्वार, प्रयाग और काशी इसी संस्कृति के आज भी बहुत बड़े केन्द्र हैं।

गंगा की हिमालय से लेकर समुद्र तक की यात्रा में हमे जो प्रदेश मिलते हैं वे ऐतिहासिक दृष्टि से भी बड़े ही महत्व के रहे हैं। इस दृष्टि से देखने पर हमारे देश का कोई भी दूसरा अंचल इसकी बराबरी तक नहीं पहुँच पाता। राम और कृष्ण दोनों की ही लीला-भूमि इसके ही पड़ोसी अंचल रहे हैं। अवध राम से भी प्राचीन काल में प्रख्यात रघुओं की भूमि रहा है। अपनी यात्रा के बीच में जहाँ गंगा लगभग

सीधी पूरब बहती है उनका वह बिचला कांठा बिहार है। इस बिहार में गंगा के ही तट पर बसे पाटलिपुत्र को एक ज़माने मे बहुत बड़े राजनैतिक और सांस्कृतिक केन्द्र बनने की मर्यादा प्राप्त हुई थी। इसके सिवा, गंगा तथा उसकी सहायक नदियों के तट पर अनेक वैसे नगर तथा बस्तियाँ हैं जो हमें अपने देश के प्राचीन इतिहास को याद दिला देती हैं। वे हमारे देश की अनेक प्राचीन राजधानियों से भी प्राचीन होने का दावा करती हैं।

यों तो गंगा की साढ़े पंद्रह सौ मील लंबी हिमालय से बंगोपसागर तक की पूरी धारा के साथ उसके तट का प्रत्येक पग ही पावन माना जाता है; फिर भी इसमें काशी की भूमि का महत्व सबसे अधिक है। यही हमारी विद्या, धर्म, सभ्यता, संगीत, शिल्प और कला का सबसे बड़ा केन्द्र रहा है। सांसारिक उन्नति के साथ-साथ आध्यात्मिक उन्नति में यह नगरी सबसे आगे रहती आई है। हिन्दू संस्कृति के विचार से इसे सारे भारत का हृदपिंड नाम देना ही उचित होगा। पर काशी नगरी को यह मर्यादा और इतना बड़ा माहात्म्य असल में गंगा ने ही प्रदान किया है।

गंगा की पटभूमि में ही काशी का सौन्दर्य खिलता है। उसकी धारा इस अर्धचंद्राकार नगर को मीलों लंबी घाट की सीढ़ियों को धोकर उनमें असंख्य नरनारियों को पावन

बनाने की शक्ति ला देती है। गंगा के वहाँ रहने के ही कारण इन घाटों के ऊपर बसा नगर विशाल रंगमहल के मंच सा दिखाई देता है। वहाँ के सारे दृश्य की एक साथ झाँकी लगाने पर मालूम पड़ता है जैसे गंगा ने किसी अलौकिक संगीत को ही साकार रूप दे उस नगर के रूप में जमा कर ला खड़ा किया है। प्रति दिन ब्राह्मवेला होते ही पहले स्वयं गंगा ही अपने शरीर पर की अँधेरी रजाई दूर फेंक झिलमिल कज्जल वस्त्र धारण कर जग पड़ती हैं। इन्ही मुहूर्तों में उनकी घाट की सीढ़ियों से युग-युग की बातें हुआ करती हैं। वही विशेष गुन-गुन नगर निवासियों को जगाता है। इसी समय गंगा के प्रवाह से निकली भैरवी समस्त रात्रि का संचित ताजा माधुर्य ले हवा में बिखेरने लगती है। गंगा-तट के वृक्ष उसे पान कर झूमने लगते हैं। तब मंदिरों के घरी-घंट बज उठते हैं। मालूम पड़ता है जैसे उनकी एक-एक चोट से अज्ञान-अंधकार दूर भागता जा रहा है। इस काशी की गिनती अवश्य ही गंगा की सुन्दरतम कीर्त्तियों में की जा सकती है।

सौन्दर्य-सृष्टि या हमारे प्रदेशों को सुन्दर धारा का स्वरूप देने के कार्य में गंगा अवश्य ही अकेली नहीं हैं। अपनी इस दुष्कर पर सुन्दर कीर्ति में उन्हें अपनी बहुत सी सखियों का सहयोग प्राप्त होता है। उनकी वे सखियाँ ख्याति में अवश्य ही गंगा की बराबरी नहीं करतीं, पर इसीलिए उनके कार्यों का

वैसा ही गौण महत्व हो, वैसी बात नहीं है। असल में गंगा की चर्चा में ही उन सबकी कीर्ति का समावेश हो जाता है। उन सबके कार्य, उनकी निःस्वार्थ सेवा और उनका त्याग प्राप्त किए रहने के कारण ही गंगा गौरवमय गंगा बन पाती हैं।

गंगा की वैसी सहायिका नदियों में यमुना के बाद घाघरा का नाम आता है। इसके स्रोत गंगा के स्रोतों के ऊपर लदाख शृंखला में हैं। घाघरा की दूनें ब्रह्मपुत्र की दून तक पहुँचने के रास्ते तैयार कर देती हैं।

गंगा की सबसे पूर्वी धारा पिंडर के स्रोत से केवल तीन मील पूरब घाघरा की पहली शाखा सरयू का स्रोत है। यहाँ से सवा दो सौ मील दूर धौलगिरि तक तमाम घाघरा का ही प्रस्रवणक्षेत्र है। घाघरा की प्रमुख सहायक नदी—शारदा वा काली घाघरा में उत्तर-पश्चिम की ओर से आकर मिलती है। हिमालय की जडस्कर शृंखला से निकलने वाली गौरी गंगा, धौली गंगा और काली की धाराओं से ही शारदा बनी है। सरयू की उपरली दून तथा शारदा को बनाने वाली धाराओं का दून ही सुन्दर कुमाऊँ प्रदेश है। इस प्रदेश के पश्चिमी अंचल में पिंडर के स्रोत के नीचे से निकलने वाली रामगंगा और उसकी सहायक कोसी की दूनें हैं। स्वयं पिंडर के उपरले प्रवाह से भी कुमाऊँ का एक अंचल बना है। यह कुमाऊँ अंचल अपने निराले सौन्दर्य की खूबियों के लिए विख्यात है

सुन्दर अंचल की सृष्टि करने वाली धाराएँ जिस सरयू (घाघरा) की मुख्य सहायक गिनी जाती हैं, वह स्वयं सरयू भी कम पावन नही है। रामचन्द्र के पूर्व पुरुषों के समय से ही इसी सरयू के किनारे बसी अयोध्या नगरी सूर्यवंशियों की राजधानी रहती आई थी। आज भी इस नगरी का दर्शन और वहाँ की सरयू मे अवगाहन करोड़ो हिन्दुओं को पावन बनाया करता है।

घाघरा के प्रस्रवणक्षेत्र से लगा पूर्व की ओर गंडक का प्रस्रवणक्षेत्र है। उसकी उपरली धाराओ का प्रदेश सप्तगंडकी कहलाता है। ये धाराएँ धौलगिरि से लेकर गोसाँई थान तक फैली हैं, पर त्रिवेणी घाट के उत्तर मे ही उन सब का संगम हो जाता है। इनकी एक धारा—काली गडक की दून धौलगिरि के पूरब से हिमालय पार तक चली गई है। एक दूसरी—त्रिशूली गंडक की दून भी तिब्बत जाने के पुराने रास्तो मे है।

गंडक-तट भी भगवान बुद्ध के जीवन काल तक काफी ख्याति प्राप्ति कर चुका था। लिच्छवियों के प्रसद्ध प्रजातंत्र की इसी के तट पर सृष्टि हुई थी। गंगा मे मिलने के पहले इस नदी का नाम नारायणी पड़ जाता है। इसका गंगा से संगम हरिहर क्षेत्र मे हुआ है। यहाँ शिव का मन्दिर है। लोगों के विश्वास के अनुसार वह उसी स्थान पर है जहाँ गज-ग्राह की लड़ाई हुई थी और गज के आर्त होकर पुकारने

पर स्वयं भगवान ने उसकी रक्षा की थी। कातिकी पूर्णिमा के अवसर पर यहाँ आजकाल भी वैसा मेला लगता है जिसकी गिनती संसार के बहुत बड़े मेलों में होती है।

सप्तगंडकी के पूर्व ठेठ नेपाल की छवीस मील लंबी और सोलह मील चौड़ी दून है। यहाँ विष्णुमती तथा मनोहरा का बागमती के साथ संगम होता है। नेपाल की राजधानी भी इसी दून में है। वहीं बाबा पशुपतिनाथ का मंदिर है जहाँ उनके दर्शन के लिए शिवरात्रि के दिन लाखों की भीड़ लग जाती है।

ठेठ नेपाल की दून के पूर्व सप्तकौशिकी प्रदेश है। इस प्रदेश में कोसी की अनेक धाराएँ हैं जिनमें सनकोसी, दूधकोसी और अरुण मुख्य हैं। कोसी की इन धाराओं की दून होकर भी नेपाल से हिमालय पार जाने के रास्ते हैं। पूर्व में इन धाराओं का स्रोत कांचनजंघा तक फैला है।

पश्चिम में शारदा की उपरली दून से लेकर पूर्व में कोसी के कांचनजंघा से निकलने वाली धारा तक का प्रदेश नेपाल है। मोटे मोटी रूप में उत्तर में हिमालय की हिम रेखा—जिसमें नेपाल की अधिकांश नदियों का स्रोत है, और दक्षिण में हिमालय की तराई, नेपाल की सीमा निर्धारित कर देती है। यह प्रदेश हिमालय के दुशाले में लगा उसका विचला हिस्सा है। यहाँ के जंगल ही इस प्रदेश के वैभव हैं। आदमियों का

साहस उसके कितने ही रूपो विशेषकर ऊँचे पर्वतवाले अंचल में निवास करने वाली प्रकृति का घूँघट उठा कर उसके वास्तविक सौन्दर्य का दर्शन कर पाने में सफलता नहीं पा सका है।

नेपाल के दक्षिण के प्रदेशो की भूमि का निर्माण प्रकृति ने वहाँ की नदियो से सिर्फ नरम मिट्टी इकट्ठी करा कर निर्माण किया है। इस अंचल में पथरीली भूमि का नितान्त अभाव है। इसीलिए यहाँ की रौनक भी और ही ढग की है। इसके पश्चिमी अचल से ही हमे आम के बगीचे मिलने लगते हैं। हम ज्यो-ज्यो पूरब की ओर बढ़ते हैं वे वृक्ष अधिक घने और अधिक सघन छाया वाले मिलते हैं। उनके बीच से जब सनसनाती हुई हवा निकलती है तो वे आम्र वृक्ष मस्ती से झूमने लगते हैं। एक समय ऐसे ही आम्रवन में भगवान बुद्ध टिका करते थे।

और पूरब बढ़ने पर हमें केले के कोमल थम्ह और उनके बड़े-बड़े चिकने पत्ते मिलते हैं। उनकी आयु आम्रवृक्षो से कहीं कम होती है फिर भी अपने जीवन-काल के अल्प दिनो में ही वे न सिर्फ अपनी स्निग्ध हरियाली से हमारी आँखें शीतल करते हैं बल्कि प्रचुर मात्रा में मीठे फल भी उपभोग करा जाते हैं। साथ ही, उनकी वृद्धि की रफ्तार इतनी तेज रहती है कि फल लगने के बाद यदि उनके वृक्ष काट न डाले जाएँ तो उनसे वैसा घना जगल बन जा सकता है

जिनके भीतर आदमियों का प्रवेश कर पाना भी कठिन हो जाएगा।

हम यदि पूर्व दिशा में और भी आगे बढ़ते जाएँ तो वहाँ की ज़मीन हमें पश्चिमी अंचल की अपेक्षा अधिकतर और पानी से चपचप करती दिखाई देगी। यहाँ हमें केले के थम्हों के साथ-साथ बाँस, खजूर और तालवृक्षों की भरमार दिखाई देगी। ये ही हमें याद दिला देते हैं कि अब हम उस बंगाल प्रांत में आ पहुँचे हैं जहाँ गंगा ने समुद्र की तरफ मुँह फेर उससे मिलन के लिए अपनी बाँहें फैला दी हैं।

गंगा के प्रयाग से पूर्व की ओर बढ़ने पर उसके किनारों पर की ज़मीन के उतार का सिलसिला बहुत कम होता गया है। यह जमीन एक मील के बीच मुश्किल से छः इंच ढालू हो पाई है। इस उतार के धीमे सिलसिले के ही कारण समुद्र से मिलने के आखिरी दो सौ मील के बीच, जितनी मिट्टी पहाड़ों से ढोकर गंगा लाती हैं उसे आगे बहा ले जाने की ताक़त उनकी धारा में नहीं रह जाती। समुद्र के निकट पहुँचते पहुँचते वह मिट्टी इकट्ठी होकर उनकी धारा को ही कई भागों में विभक्त हो जाने के लिए बाध्य करती है। इसी के परिणाम स्वरूप बंगाल के डेल्टे में निवास कर सकने लायक नई भूमि निकल आती है। जहाँ से गंगा की धारा से भागीरथी (हुगली) अलग निकल जाती है, वहाँ से ही

बगाल का असली डेल्टा आरंभ होता है। भागीरथी के सबंध में अनुसंधान करने वाले कई विद्वानों का मत है कि भागीरथी गंगा की स्वाभाविक धारा नहीं है, बहुत पुराने जमाने में यह गंगा से नहर निकाल कर लाई गई थी। राजा भगीरथ के सबंध में गंगा के लाने की जो कहानी प्रचलित है, सभव है कि उसका यही असली मतलब हो। गगा के और आगे बढ़ने पर गोआलदो में ब्रह्मपुत्र नदी भी उनसे आ मिली है। इस मेल के दक्खिन से पूर्वी बंगाल की घनी आबादीवाले डेल्टा अचल का निर्माण शुरू हो जाता है।

ब्रह्मपुत्र नदी गगा से मिलने के पहले ही अपने निर्माण का बहुत बड़ा अश पूरा किए रहती है। कैलाश के पूर्वी छोर से निकल कर अपनी १८६० मील की लबी यात्रा का आधा भाग वह हिमालय के उस पार—तिब्बत मे ही पार करती है। वहाँ यह चाङ्पो कहलाती है। भारत की उत्तर-पूर्वी सीमा पर पहुँचने पर लोहित नदी उसमे आकर मिल गई है। प्राचीन काल मे हमारे देशवासी इस लोहित (लौहित्य) को ही अपने देश का पूरबी छोर मानते थे। यहाँ ही सदिया के पास से ब्रह्मपुत्र नदी दक्खिन-पच्छिम दिशा ले भारतवर्ष के भीतर प्रवेश करती है।

ब्रह्मपुत्र की धारा काफी चौड़ी है। बीच-बीच मे अनेक जगहों पर द्वीप-से भी बनगए हैं। साथ ही यह नदी बड़ी तुनुक-

मिजाज है। अपनी ही धारा द्वारा इकट्ठी की गई मिट्टी-पत्थर यदि उसके रास्ते में थोड़ी भी वाधा देते हैं तो यह तुरत ही उस स्थान से हट कर अपने प्रवाह के लिए दूसरा रास्ता वना लेती है। इसी भांति यह वहुत से चक्कर लगाती और अनगिनित द्वीप तैयार करती अपने आसाम के काँठे में साढ़े चार सौ मील तक वहती है। फिर गारो पहाड़ के नीचे पहुँच वहाँ एक अद्भुत सुन्दर मोड़ तैयार कर यह आसाम के वाहर निकल आती है। यहाँ से इसका नाम यमुना पड़ जाता है। तव यह १८० मील ठीक दक्षिण दिशा में चल कर गोआलंदो पहुँच गंगा में मिल जाती है।

और नदियों की भाँति ब्रह्मपुत्र की धारा से खेतों की सिंचाई करने की सुविधा नहीं है। पर उसमें हर साल जो भयानक वाढ़ आती है वही नदी-तट के प्रदेशों के लिए प्राकृतिक सिंचाई का काम पूरा कर देती है। समुद्र से लेकर डिवरूगढ़ तक की इसकी आठ सौ मील की धारा में नौका वा जहाजों द्वारा यातायात की सुविधाएँ हैं। मुख्यतः नदियों का ही प्रदेश रहने के कारण इस अंचल में व्यापार वा यातायात के साधनों में अव भी नाव वा स्टीमर वहुत महत्त्व रखते हैं।

गंगा-ब्रह्मपुत्र संगम के उत्तर हिमालय तक के प्रदेश में ब्रह्मपुत्र में मिलनेवाली नदियों की ही शाखाएँ फैली हैं।

कांचनजंघा के पूरब हिमालय का पानी गंगा में न जाकर ब्रह्मपुत्र में ही जाता है। नेपाल से लगा पूरब की ओर तिस्ता की दूनों का प्रदेश सिकिम है। इसी के निचले छोर में दार्जिलिंग, तिब्बतियों का दोर्जेलिंग—वज्रद्वीप है। यहाँ से कांचनजघा से लगी हिमालय की चोटियों का दृश्य बड़ा रमणीक है। मौसिम साफ रहने पर गौरीशंकर तक की चोटी वहीं से दिखाई दे जाती है। उधर देखने पर मालूम पड़ता है जैसे उन चोटियों के स्वरूप में स्वयं हिमालय ही अपने पांवों के पास बसने वाली बस्तियों को हमेशा आशीर्वाद दिया करता है।

सिकिम से पूरब तिब्बतियों का बिजली का देश—भूटान है। यहाँ भी अनेक धाराएँ फैली हैं जो सब नीचे मैदानों में उतर कर ब्रह्मपुत्र से मिल जाती हैं। उन धाराओं में अमोछू की दून—चुम्बी दून बनाती है। आजकल भारत से तिब्बत जाने का मुख्य रास्ता इस दून से होकर ही है।

गंगा के साथ ब्रह्मपुत्र के मिल कर आगे बढ़ने पर चाँदपुर में और एक नदी—मेघना उनसे आ मिलती है। मेघना की मुख्य शाखा सुरमा है जिसका काँठा दक्खिणी आसाम का अंचल है। संसार भर में सबसे अधिक वृष्टि इसी अंचल के खासी—जयंतिया पहाड़ियों के नीचे बसे चेरापुंजी नामक स्थान में होती है। उस स्थान के आसपास के इलाकों को

धुआँधार बादलों का प्रदेश नाम दे देना ही अधिक उचित होगा। यह सारा पानी सुरमा और मेघना के जरिए गगा मे जा पहुँचता है। इसी कारण चाँदपुर में गंगा का (मुर्शिदाबाद से ही उनका नाम पद्मा दिया जाता है) पाट मीलो चौड़ा हो जाता है। उनकी धारा समुद्र-सा रूप धारण कर लेती है। आर पार दिखाई नहीं देता।

गगा के निचले कांठे वा ब्रह्मपुत्र मे नाव से यात्रा करने पर तट पर के प्रदेश इतने शस्यश्यामल दीखते हैं कि वे जीवित रहस्यों से ढके से प्रतीत होते हैं। नदियो के अचल के उस भाँति रहस्यमय सौन्दर्य से ढके रहने के ही कारण संभवतः आसाम प्रदेश की ख्याति जादू, मन्त्र-तंत्र आदि के मामलों मे बहुत अधिक है।

गंगा के समूचे कांठे को ही हम अपने देश के सबसे घनी आबादी वाले सम्पन्न प्रदेशों में गिन सकते हैं। इस कांठे की दिल्ली से कलकत्ते तक की लंबाई और लखनऊ से प्रयाग जितनी चौड़ाई की पचास हज़ार वर्गमील भूमि में फी वर्ग-मील भूमि पर पांच सौ आदमी निवास करते हैं। इस विशाल जनसमुदाय की वास्तविक जननी गंगा ही हैं।

यही नही, हमारी प्राचीन सभ्यता और संस्कृति की जननी भी गंगा मैया ही हैं। इन्होने ही हमारे आर्य पूर्वजों को वह प्रेरणा दी जिसके बल वे महान भारतीय संस्कृति का

निर्माण करने में सफल हुए। उस संस्कृति ने अपनी छत्र-छाया में न सिर्फ कैलाश से कन्याकुमारी और कमख्या से द्वारका तक के भारतीय भूखंड के ही, बल्कि भारत महासागर के द्वीप समूह, एशिया के बड़े भाग—पृथ्वी के आधे पूर्वी गोलार्द्ध के मानव समाज को आश्रय दिया है। भारतीय संस्कृति की यह व्यापकता, हमारे पूर्वजों की यह देन, कीर्ति और यश वास्तव में पावन-धारा गंगा की है।

दक्षिण की धाराएँ

भागीरथी हमें जहाँ किनारे पर छोड़ सागर से जा मिलती हैं वहाँ से हमारे देश के दक्षिणी अंचल में प्रवेश करने का सबसे सुगम रास्ता है। बंगोपसागर के किनारे-किनारे उस दिशा में आगे बढ़ने पर सबसे पहले दक्षिण की जिस बड़ी नदी का हमें मुहाना मिलता है वह महानदी है। इसी नदी के मुहाने के दक्षिणी छोर पर बाबा जगन्नाथ का धाम बसा है। यह तीर्थ ऊँच-नीच ब्राह्मण-चांडाल तक का भेद-भाव मिटा देने का दावा करता है। जगन्नाथ के दरबार में सब मनुष्य एक हैं। महाप्रभु चैतन्यदेव की भी यही लीलाभूमि रही है। आज भी पुरी के तट पर समुद्र दिन रात गरज-गरज कर लोगों को अपना हृदय विशाल बनाने की शिक्षा देता रहता है।

स्वयं महानदी विन्ध्या के दक्षिण पड़ोस से अपनी जीवन-यात्रा आरंभ कर मध्यप्रांत हो रायगढ़ के पास उड़ीसा

के मैदान में प्रवेश करती है। यहाँ से वह अपने काँठे को उर्वरा बनाती कटक पहुँचती है। वहाँ से समुद्र में मिलने के पहले उसकी कई धाराएँ हो जाती हैं। मुहाने पर भी मैदान का अच्छा चौड़ा हाशिया बन गया है। नदी के इसी अंचल की आबादी उसके और अचलों की अपेक्षा अधिक घनी है। महानदी द्वारा दी गई सुविधाओं के ही कारण उस अंचल के आदमियों ने अपनी उच्च सस्कृति के चिन्ह वहाँ पर स्थाई बना रखने की चेष्टा की है।

महानदी के ऊपरले काठे के उत्तर विंध्या के हृदय जैसे दीखनेवाले स्थान से ही नर्मदा का स्रोत निकलता है। उसके और पश्चिम से ताप्ती निकली है। भारतवर्ष की नदियो में नर्मदा और ताप्ती का ही यह वैचित्र्य है कि ये पूरब से निकल कर पश्चिम दिशा मे बहती हैं। अरबसागर मे गिरने तक इन दोनो की धाराएँ बहुत कुछ समानान्तर रहती हैं। दोनों को ही उस समुद्र की ओर का रुख लेने मे काफी संघर्ष करना पड़ता है। उनके तट के जंगल भी कम घने नही हैं। सिर्फ जब वे गुजरात में प्रवेश करती हैं और उस प्रदेश मे बड़े दुर्गम रास्तो के बीच से अपने प्रवाह द्वारा खींच लाई विन्ध्या की अनूठी संपत्ति बिखेर कर उसे उर्वरा बना देती हैं तो दृश्य पलट जाता है।

मध्यप्रांत से होकर जब नर्मदा निकलती हैं तो उन्हें अपना रास्ता संगमरमर की पहाड़ियों को काट कर बनाना पड़ता है। उस कटाई के सिलसिले मे स्थान-स्थान पर उन्होंने कला की दृष्टि से बड़ा ही सुन्दर कौशल दिखलाया है। पता नही, वहाँ कितने तरह की भव्य तथा सुन्दर मूर्तियाँ नर्मदा ने अपनी धारा की छेनी चलाकर निर्माण की हैं। यह अपने ढग की एक अलग ही 'अजंता' है। चाँदनी रात में उसका सौन्दर्य और भी बढ़ जाता है। नाव मे सवार हो नर्मदा के साथ-साथ चलने पर उसके दोनो तरफ की संगमरमर की पहाडियों और चट्टानो में अद्भुत नैसर्गिक चमक आ गई दीखती है। चारो तरफ शान्ति रहती है। सुनाई देती है सिर्फ नर्मदा की अपनी कहानी। वे शायद अपने द्वारा तैयार की गई मूर्तियो को वास्तव में ही सच्ची मान उन्हे उनके निर्माण की कहानी सुनाती हैं।

वे अपने अंचल में पहुँचनेवालों को भी, मालूम नहीं, कितने प्रकार की गाथा सुनाती होगी। आदमी उस गाथा के शब्द नहीं समझ पाते पर उसकी झंकार ध्वनि पर मुग्ध होने से भी वे अपने को नहीं रोक पाते। उन्हें वह झंकार ऊपर के किसी और लोक से आई प्रतीत होती है। इसीलिए हमारे देशवासी स्वर्ग की झंकार सुनानेवाली उस नर्मदा का बड़ा माहात्म्य मानते हैं। उन्हें वे मध्य तथा पश्चिमी अंचल की

गंगा कहते हैं। नर्मदा की धारा भी हिमालय से निकलनेवाली गंगा की भाँति ही पवित्र मानी जाती है।

ताप्ती की धारा के पास पश्चिमघाट का उत्तरी छोर समाप्त होता है। इस कारण ताप्ती का मुहाना काफी महत्त्व रखता है। पहले समुद्र-पार से आने वाले नाविकों के लिए भारत के भीतरी हिस्सों से व्यापार का वही प्रवेश-द्वार था। एक समय सूरत के बहुत संपन्न—पश्चिम भारत के शायद सबसे संपन्न नगर बन जाने का यही कारण था। उन्हीं कारणों से नर्मदा के मुहाने पर के बरोच नगर को भी ख्याति मिली थी। इन दोनों नगरों का, जिन नदियों के मुहाने पर वे बसे हैं—उस ताप्ती और नर्मदा की धाराओं के साथ गुजरात को समृद्धिशाली बनाने और गौरव प्रदान करने में बहुत अधिक हाथ रहा है।

भारत के पश्चिमी अंचल से दक्षिण जाने के मुख्य रास्तों का रुख भी वहाँ की नदियों ने ही निर्धारित कर दिया है। नदियों के प्रवाह के अनुसार ही वे रास्ते भी पश्चिम-उत्तर से पूरब दक्षिण दिशा लेते हैं। जमीन का ढाल पूरब तरफ रहने के कारण दक्षिण की सब बड़ी नदियाँ पूरब ही बहती हैं। पूर्वी घाट की शृंखलाओं ने उन नदियों को सागर पहुँचने का रास्ता बीचबीच में दे दिया है। अपने मुहानों पर उन सब नदियों ने अच्छा चौड़ा सब्ज हाशिया बना लिया है जो

खूब ऊँचाई से देखने पर किसी विशाल बाग की हरी-भरी क्यारियाँ जैसे दीखते हैं।

उत्तर की ओर से चलने पर ऐसी नदियों में हमें सर्वप्रथम गोदावरी मिलती हैं। इनका उद्भवस्थान नासिक के पास पश्चिमघाट में है। अरबसागर से यह स्थान बहुत अधिक दूर नहीं है। शुरू शुरू में गोदावरी का घुमाव बहुत मामूली ढंग का रहता है। ये उथली रहती हैं, पर पाट काफ़ी चौड़ा रहता है। इनके यहाँ के तट और जंगलों का सौन्दर्य राम और सीता के वनवास के दिनों से ही प्रख्यात है। वाल्मीकि, भवभूति और तुलसीदास ने उन्हें अमर बना दिया है।

रह जाते हैं तो पूरब घाट की पहाड़ियों के निकट आ जाने के कारण इनका पाट संकीर्ण होने लगता है और धारा की गहराई बढ़ने लगती है। यहाँ की पहाड़ियों के बीच रास्ता पाने के लिए इन्हें एक स्थान पर मुश्किल से दो सौ गज चौड़ा संकीर्ण पथ बनाकर निकलना पड़ता है। इस स्थान पर जब ये घूम पड़ती हैं तो इनकी धारा में प्रचंड वेग आ जाता है।

राजमन्द्री पार कर जाने पर गोदावरी अपनी भुजाएँ फैलाने लगती हैं। इनकी ये भुजाएँ नरसापुर से कोकनद तक फैली हैं। अपने मुहानों के पास ये जो डेल्टा बनाती हैं वहाँ की जमीन अपनी उर्वराशक्ति के लिए विख्यात है। जिस गोदावरी-तट ने एक समय राम-सीता को आश्रय दिया था वही आज भी लाखों दक्षिण निवासियों को आश्रय देता है। वही गोदावरी उन्हें सभ्यता की सीढ़ियों पर भी उत्तरोत्तर ऊपर की ओर उठाती लेती चल रही है।

गोदावरी के दक्खिन बहुत कुछ उसके समानान्तर बहनेवाली बड़ी नदी कृष्णा है। यह दक्षिण भारत को स्पष्ट दो हिस्सों में बाँट देती है। इसका उद्भवस्थान अरब सागर से सिर्फ चालीस मील की दूरी पर महाबलेश्वर के पास है। अपनी यात्रा में इससे उत्तर की ओर से आकर भीमा, और मैसूर की ओर से आकर तुँगभद्रा मिल जाती हैं। भीमा,

कृष्णा और तुंगभद्रा तीनों की ही दूनें पर्वतमालाओं द्वारा चारों ओर से घिर जाती हैं। इसी कारण कृष्णा की धारा को बड़ा गहरा रास्ता काट कर आगे बढ़ना पड़ता है। पथरीली सतह पर का इनका स्रोत बहुत प्रचंड है। किसी बड़े पैमाने पर सिंचाई की व्यवस्था उनसे नहीं की जा सकती। अंत में श्रीशैल (नालमलै) की पहाड़ियों से बचने के लिए कृष्णा बहुत से चक्कर लगाती हैं और तब पहाड़ों के घिरावे से बाहर निकल आती हैं। ।

तुंगभद्रा और कृष्णा के बीच का दोआब दक्षिणभारत के मध्यवर्ती रास्ते पर पड़ने के कारण इतिहास में बहुत महत्त्व रखता आया है। दक्षिण के उत्तरार्द्ध और दक्षिणार्द्ध राज्यों के बीच के आधिपत्य की बहुत बड़ी बड़ी लड़ाइयाँ इसी क्षेत्र में लड़ी जाती रही हैं।

कृष्णा बेजवाड़े के पास पहुँच जाने पर पूर्वीघाट पार करती हैं। यहाँ पत्थर द्वारा पानी रोक रखने की बड़ी प्राचीन व्यवस्था (ऐनिकट) अब भी बनी हुई है। वह व्यवस्था कृष्णा के स्रोत का वेग कम कर देती है। यहाँ से ही उनकी धारा से दो बड़ी नहरें निकाली जाती हैं जिनके द्वारा सवा दो लाख एकड़ से भी अधिक भूमि की सिंचाई होती है।

दक्षिण भारत की बड़ी नदियों में कावेरी सबसे दक्खिनी हैं। इन्हें—'दक्खिन की गंगा' भी कहा जाता है। मैसूर के

पश्चिम कुर्ग के पहाड़ो मे उनका उद्भवस्थान है। पहाड़ो के साथ जटिल सघर्ष का पाला पड़ने के कारण इनका मार्ग उपरली दून मे विकट और पथरीला रहने के साथ साथ हरियाली-विहीन है। जिन पहाड़ियों को काट कर यह अपना रास्ता निकालती हैं वे इनकी धारा के दोनो ओर दीवार से खड़े दीखते हैं। पर मैसूर मे प्रवेश करने पर कावेरी की धारा खेतों की सिंचाई के काम में आने लगती है। शिव समुद्रम के पवित्र द्वीप के पास वह अपनी धारा पर आदमियो द्वारा लगाया नियन्त्रण भी स्वीकार करती है। इस नियन्त्रण द्वारा कावेरी की धारा दो भागों मे विभक्त हो तीन सौ फीट की ऊँचाई से गिरने वाले जलप्रपात के रूप मे परिणत हो जाती है। उससे जो बिजली तैयार होती है उससे आदमियो के आधुनिक व्यवहार की चीजें तैयार करनेवाले कारखाने चलते हैं। वहाँ से आगे बढने पर कावेरी पहले दक्षिण दिशा लेती है और तब सागर की ओर जाने के लिए सीधे पूरब घूम जाती है। सागर मे मिलने के पहले वह तजौर के फुलवारी जैसे सुन्दर अचल की सृष्टि कर जाती है।

कावेरी के दक्षिण हमे वैगै मिलती है। यह मलयगिरि से निकल कर हमारे लिए सेतुवध रामेश्वरम् तक का रास्ता बना देती है। यदि हम उनके काँठे से मैदान ही मैदान सीधे दक्षिण की ओर चलें तो शीघ्र ही अपने देश के दं

सिरे के उस नाके पर पहुँच जाएँगे जहाँ कुमारी देवी का निवास है। लोगों का विश्वास है कि वे हमारे देश की रक्षा करती हैं।

कुमारी देवी के मदिर के सामने समुद्रतट पर जो पत्थर है वहाँ बैठ कर हम मातृभूमि के चरणों की धूलि अपने सिर पर लेते हैं। हमारे तीन तरफ़ से समुद्र अपने हिलोरों का विशाल बाहुपाश फैलाए हमारी ही तरह हमारी मातृभूमि की चरणधूलि अपने मस्तक पर धारण कर लौट रहा है। वह वापस जाकर आकाश की नीलिमाओं से मिल जाता है। उसका कही भी ओर छोर दिखाई नहीं देता।

जब हम यहाँ से ही अपने पार किए रास्ते को देखते हैं—अपनी मातृभूमि की एक झाँकी लगाते हैं, तो हमे अपने देश की महानता का अनुभव होने लगता है। हमारा मन अनायास ही कई हज़ार मील दूर—हिमालय और उसके मंदिर सरीखे शृंग कैलाश की ओर दौड़ जाता है। उस योगिराज की स्मृति आने लगती है जो शास्वत हिम का शाल ओढ़े मानव कल्याण के लिए तपस्या में युगयुग से ध्रुव, अचल, ध्यानमग्न खड़े हैं। उनके और समुद्र के बीच हमारे जीवनस्रोतों का ताँता लगा है। हमारी मातृभूमि के अंग की वे ही शिराएँ हैं। उनके पावन जल से ही हमारे शरीर में रक्त का संचार होता है। पहाड़ों द्वारा दान की गई सामग्री वे ही

शिरायें ढोकर लाते हैं जिनसे हमारा मांस बनता है। वही हमारी सभ्यता और संस्कृति की पथप्रदर्शिका हैं। उन्होंने ही हमारे लिए विकास का पुनीत क्षेत्र तैयार किया है। उन्हीं के हरहर, कलकल, छलछल्, खिल्खिल् गान से हमे नित्य नए जीवन की प्रेरणा मिलती है।

हमारे पूर्वज

ऐतिहासिक धारा

हमारे देश को सँवारने मे हमारे पूर्वजो का बहुत बड़ा हाथ रहा है। उनके ही अथक परिश्रम द्वारा हमारे सामने के लहराते खेत, हरे-भरे बाग, झिलमिलाते सरोवर, अनगिनित रास्ते, सैकडो नगर और यहाँ बसे लाखों गांवो की बुनियाद डाली गई थी। इतना ही नहीं, हमारी सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक व्यवस्थाओ, हमारी भाषा, रीति-रिवाज, संस्कार, शिक्षा, विद्या-बुद्धि तथा हमारी विचारशैली तक की बनावट में उनके ही द्वारा तैयार किए गए साँचे की छाप आज भी लगी है। एक शब्द में—हमारे देश तथा हमारी अपनी जीवनधारा का आरंभ हमारे पूर्वजो से ही हुआ है। इसीलिए अपने देश की सभ्यता समझने, अपनी जाति के सर्वांगीण विकास का वृत्तान्त जानने और अपने प्राणों को स्फुरण देनेवाली रश्मियों का दर्शन करने के लिए उस ऐतिहासिक धारा के साथ-साथ उसके उद्गवस्थान

तक की यात्रा करना नितांत आवश्यक हो जाता है।

पर यह यात्रा वैसी सुगम नहीं है। हमारा देश विशाल महादेश है। हमारा इतिहास भी बहुत पुराना है। अब तक उसका जितना कुछ अंश जाना गया है वह यदि उसकी निरी निर्जीव घटनावली नहीं तो केवल बाह्य-रेखा मात्र अवश्य ही प्रतीत होता है। इसकी अपेक्षा उसका जितना अंश हमें दुर्बोध रूप में प्राप्त है, अथवा जितना कुछ नहीं जाना जा सका है वह कहीं पुराना और महत्त्वपूर्ण है।

कितने अत्यंत मार्के के स्थानविशेषों पर हमें अपना इतिहास—अपनी 'जीवनधारा' अन्तःसलिला के रूप में दिखाई देती है। हमें वहाँ बहुत सी मिट्टी खोदने और अनेक क़िस्म की रेती का ढेर हटाने पर एक समय उस स्थान से होकर बहनेवाली धारा की स्मृति दिलानेवाले कुछ अवशेष मिलते हैं। बहुत से स्थानों पर वह धारा पत्थर पर लकीरें बना अपना वृत्तांत लिखती गई है।

पर सभ्यता के विकास और महत्त्वपूर्ण घटनाओं के अनेक घुमावों पर हमें पत्थर की वे लकीरें नहीं मिलतीं। शताब्दियों के भौगर्भिक उपद्रव और आँधी-पानी में इतिहास के वे ठोस अवशेष नष्ट हो गए हैं। नदियां अपनी धारा बदलती रहती हैं। वे ऐतिहासिक अवशेषों पर प्रतिवर्ष नई मिट्टी लाकर डाल जाती हैं। गर्मी और वर्षा भी ईंट-पत्थर की वस्तुओं को

बहुत दिनों तक रहने नहीं देती। पर इसीलिए हम उन महत्त्वपूर्ण घुमावों की अवहेला नहीं कर सकते। बिना उस अंश की धारा का पता लगाए हमारे इतिहास के दूसरे अंशों की समुचित व्याख्या ही नहीं हो सकेगी। भाग्यवश इन मौकों पर हमें अपने पूर्वजों द्वारा छोड़े साहित्य और लेखों की मदद मिलती है। उनमें के बहुत से लेख पत्थर, सिक्कों वा हमारे धर्म तथा इतिहास के ग्रंथों में मिलते हैं।

इन साधनों के अलावा, ऐतिहासिक धारा की परख में भूगर्भ, नर-देह, भाषा-विज्ञान आदि शास्त्रों के सिवा प्राचीन जमाने के सभ्य देशों के खँडहरों से प्राप्त अवशेष तथा वहाँ के ऐतिहासिक अनुसंधान द्वारा पहुँचे निष्कर्षों से बड़ी मदद मिलती है। विभिन्न आदमियों की आकृति और उनके रंग के साथ-साथ उनकी विभिन्न भाषाओं में साम्य तथा विषमता ढूँढ़ कर भी बहुत से सही नतीजे निकाले जाते हैं।

इन्हीं सब सामग्रियों के आधार पर हमें पता चलता है कि प्राचीनकाल में हमारा देश संसार के बहुत से देशों से सर्वथा अलग नहीं था। हमारा विचार-विनिमय और व्यापार दूर-दूर के देशों से चलता था। इराक की सबसे प्राचीन सभ्यता अक्काद और सुमेर की थी। वहाँ से प्राप्त मूर्तियों का अध्ययन कर बहुत से विद्वान् इस नतीजे पर पहुँचे हैं कि सुमेरियन लोग संभवतः भारत

से ही वहाँ गए थे और वहाँ पहुँचने के पहले ही वे भारत में सांस्कृतिक विकास की काफी उच्च सीमा पर पहुँच चुके थे।

सुमेर के बाद, चाइल्डिया और बैबिलोनिया के उत्कर्ष के समय भी वहाँ के लोगों का भारत से व्यापारिक संबंध था, इसके कई प्रमाण मिले हैं। वहाँ के छः हजार वर्ष पुराने खंडहर में शाल की लकड़ी का एक टुकड़ा मिला है, जो भारतीय ही हो सकता है। उनकी भाषा में सिन्धु को मलमल कहते थे, इससे अनेक विद्वान अंदाज लगाते हैं कि वे लोग रुई का बना कपड़ा सिन्धु-तट से मँगाते थे। उनकी सृष्टि-कथा भी वैदिक सृष्टि-क्रम से ली गई जान पड़ती है। उनके सिवा, मिस्र की सभ्यता में भी कई बातें आर्य सभ्यता से मिलती पाई गई हैं। ईरान से हमारे देश के घनिष्ट संबंध रहने के तो सैकड़ों प्रमाण मिलते हैं।

ऐतिहासिक धारा का रुख निर्धारित करने में प्रकृति का भी कम हाथ नहीं रहता, बल्कि जहाँ तक उच्च संस्कृति की द्योतक प्रेरणाओं का प्रश्न है, इसका विकास शुरू-शुरू में बहुत कुछ प्रकृति पर ही निर्भर करता है। इसीलिए अपने देश की ऐतिहासिक धारा से परिचय प्राप्त करने के लिए पहले यह जान लेना आवश्यक है कि हमारे पूर्वजों के प्रति प्रकृति का कैसा रुख रहता आया था।

प्रकृति और आकृति

प्रकृति सब आदमियो को एक समान, परिस्थिति में रखकर उनके विकास में एक सी मदद नहीं किया करती। प्रदेशों के हिसाब से वह अलग-अलग रूप धारण करती है। मरुभूमि, वर्फीले वा समुद्र से घिरे प्रदेशों में बसे आदमियों के लिए उसका रूप विकराल रहता है। उन लोगों को प्रकृति से लड़ कर रोटी छीनने में बड़ी दिक्कत होती है। जो लोग घासवाले लंबे मैदान की, अपने शरीर के मुआफिक और सुखद, आवहवा में बसते हैं उनका जीवन-संग्राम अपेक्षाकृत कम जटिल होता है। इन्हीं विविध परिस्थितियों द्वारा आदमियों की आकृति गढ़ी जाती है।

इस आकृति के साँचेविशेष में गढ़ देने के सिवा आदमियों की योग्यता, प्रवृत्ति अथवा प्रेरणा निर्धारित करने मे भी प्रकृति का वहुत वड़ा हाथ रहता है। वह अपने साथ संघर्ष लेने के लिए आदमियों को पग-पग पर वाध्य करती है।

इसी संघर्ष के सिलसिले मे वह हमारे अवयवों के गठन मे परिस्थिति के अनुकूल परिवर्तन ला देती है। सब आदमियो मे बीजरूप में सभी गुण होते हुए भी प्रकृति उन्हे जिस परिस्थिति मे रखती है उसमे जिन गुणो की उपयोगिता नहीं रहती वे दब जाते वा सुप्त हो जाते हैं। दूसरी ओर विशेष वातावरण मे जीवन-निर्वाह करने के उपयुक्त गुण जग जाते हैं। साथ ही एक आदमी यदि अधिक शारीरिक श्रम करता है तो दूसरा शरीर के साथ बुद्धि से भी उतना ही अधिक काम लेने के लिए मजबूर होता है।

अपने जीवन के गढ़े जाने में प्रकृति के इस हस्तक्षेप में जो आदमी बाधा डालते हैं वा उसकी मर्जी के खिलाफ़ चलते हैं, वे कष्ट पाते वा नष्ट हो जाते हैं। जो अपने भीतर प्रकृति के अनुकूल परिवर्तन ले आने मे अथवा उसकी दी हुई प्रेरणा का अपने जीवन मे उपयोग करने मे समर्थ होते हैं वे उन्नति की ओर बढ़ते हैं। इन्हीं बातो से आदमियो की जातियाँ और उपजातियाँ बनती हैं तथा देशो के इतिहास मे विभिन्नता आती है। आगे चलकर उन विभिन्न परिस्थितियो मे पड़े आदमी किस हद तक प्रकृति पर विजय प्राप्त करने मे समर्थ होते हैं उस पर ही उनके जीवन का सर्वांगीण विकास निर्भर करने लगता है।

ये ही वैसे विशेष कारण हैं जिनसे हिमाच्छन्न ध्रुवप्रदेश

वा अफ्रिका के तप्त वालुकामय प्रदेशों में उच्चकोटि की सभ्यता का उद्भव नहीं हुआ। ये वैसे भूभाग थे ही नहीं जहाँ आदमी के चित्त को मानवी प्रेरणाओं के विकास के लिए स्फूर्ति मिल सकती थी। प्रकृति यहाँ के आदमियों के सामने या तो उनका खून जमा देने के लिए विकराल ठंढ के रूप में खड़ी मिली वा धूप से झुलसा कर उसने उन्हें अकर्मण्य वना दिया। इन प्रदेशों में आदमी अपने को जीवित रख ले सकें यही वहुत वड़ी वात थी। ठीक वही हालत उन लोगों की थी जिनका वातावरण घने जंगल वा बीहड़ पहाड़ों ने घेर रखा था। वातावरण अनुकूल न रहने के ही कारण वहाँ वसनेवाले आदमियों की वहुतेरी शक्तियाँ क्षीण हो गईं। इन वातों का ही यह परिणाम है कि उन प्रदेशों के निवासियों का जीवन शिकारी पशुओं से थोड़ा ही ऊपर उठ पाया।

इस दृष्टिकोण से देखने पर जान पड़ता है कि प्रकृति ने जैसी परिस्थिति में हमारे पूर्वजों को पाला था वह मानवी शक्तियों के विकास के लिए अपेक्षाकृत अधिक उपयुक्त थी। हमारे वे पूर्वज भाग्यशाली थे। वे वैसी जगह पड़े जहाँ की ऋतु उग्र न थी। यहाँ की प्रकृति आदमियों के लिए माँ की तरह सहृदया थी। इस वातावरण में आदमियों के लिए अपने को जीवित रख सकने और पेट भर लेने का मामला ही उनके सामने कोई वड़ी समस्या उपस्थित नहीं कर देता

था। यहाँ की आबहवा में रहने वालों को दर्शन, विज्ञान, कला, साहित्य, संगीत आदि के लिए चित्त को स्फूर्ति मिलती थी। जीविकोपार्जन के बाद भी हमारे पूर्वजों को बहुत अवकाश मिलता था जिसे वे ग्रह-नक्षत्रों की क्रीड़ा देखने और इस जगत के रहस्यों का उद्घाटन करने में लगाते थे।

इसी ढङ्ग के विकास के सिलसिले में एक वैसा समय आया जब आर्यजाति—आर्यावर्त्ती और ईरानी—उच्चकोटि के सभ्य और सुसंस्कृत कहलाने के वास्तविक अधिकारी बन गए। बौद्धिक, नैतिक, आध्यात्मिक सब दृष्टि से वे विकास की उस सीमा तक पहुँच गये जहाँ दुनिया की और कोई जाति नहीं पहुँच पाई थी। इसका अर्थ अवश्य ही यह नहीं है कि दुनियाँ के और प्रदेशों के आदमी ही निकृष्ट कोटि के थे। यदि उन्हें भी प्रकृति ने आर्यों के समान ही अवसर दिया होता तो कोई कारण नहीं था कि विकास की दिशा मे प्रेरित करने वाले उनके भीतर के गुण उस भाँति हजारों वर्ष से काम में न आने के कारण प्रसुप्त हो जाते। परन्तु उनका तो जीवन-संघर्ष ही प्रकृति ने इतना जटिल बना दिया था कि उन्हे आर्यजाति की भाँति विकास करने का अवकाश ही नहीं मिला।

प्राचीन आर्यों का जो वर्णन उपलब्ध है उससे ज्ञात होता है कि वे लवे, गोरे, सुडौल शरीर वाले थे। आज भी हमें पंजाब, काश्मीर तथा राजपूताने में आर्यावर्त्ती आर्यों के

खालिस नमूने मिलते हैं। यहाँ के राजपूत, खत्री, ब्राह्मण, अरोड़े, जाट, अराँई आदि की आकृति, सांकर्य-दोष से बहुत हद तक बचे रहने के कारण आज भी उनके पूर्वजों के ही समान बनी हुई है। औसत से अधिक डील, गोरा या गेहुँआँ रंग, काली आँखें, दीर्घ कपाल, ऊँचा माथा, लंबा नुकीला सम चेहरा, बहुत लंबी नहीं, पर सीधी नुकीली नाक उनके मुख्य लक्षण हैं।

सुन्दर आकृति वाले हमारे वे पूर्वज अपने जीवन-संग्राम में प्रकृति पर विजय प्राप्त करने की कोशिशें करते रहे। क्षुधा और शीत से अपने शरीर का बचाव करने के लिए उन्होंने बहुत से आविष्कार किए। हमारी सभ्यता का एक बड़ा अंश हमें ऐसे ही संस्कृत वैदिक आर्यों से मिला है जिनकी चेतना पर स्थूल भौतिक कारणों का प्रभाव प्रधान रहा है।

किन्तु उन आर्यों को सिर्फ अपना पेट भर लेने वा तन ढक रखने से ही संतोष नहीं हुआ। आगे चल कर, उन्हें कोई भौतिक प्रेरणा नहीं बल्कि अपने ही अंदर की संस्कृति की द्योतक प्रेरणाएँ बेचैन करने लगीं। अपनी इसी प्रेरणा द्वारा उन्होंने एक ऐसा मार्ग आविष्कार किया जिस पर चल कर हम सब तरह के दुख भूल जाते हैं और विराट् के साथ ऐकात्म्य अनुभव करते हैं। आर्यों को इस ज्ञान में ही सर्वोच्च-कोटि का सच्चा आनंद बोध होता था। उसी के सहारे उन्हें

परिस्थिति और वातावरण के साथ साथ प्रकृति पर विजय प्राप्त करने में सफलता मिली थी।

पर यह सब कुछ देखते हुए भी स्वीकार करना पड़ता है कि आर्यों की महान कीर्तियों को संभव बनाने में उस स्थान की प्रकृति का ही आरभ मे मुख्य हाथ था जहा कि हमारे पूर्वजों का आदि-निवास था।

आर्यों का आदि निवास

हमारे आर्य पूर्वजों का आदि निवास कहा था इस प्रश्न पर विद्वत् मंडली में बडा शास्त्रार्थ चलता और विवाद रहता आया है। अपने देश के पंडितों का परम प्राचीन मत यही रहता आया है कि आर्य कही बाहर से भारत मे नहीं आए। यही देश उनका आदि-निवास है। भारतवर्ष का उत्तरीय भाग जिसमें ब्रह्मावर्त और आर्यावर्त आ जाते हैं अनादिकाल से आर्यों का घर रहा है।

इस विषय में विक्रम सवत् से तीन-चार सौ वर्ष पूर्व के भारतीय विश्वास के आधार पर मेगास्थनीज़ ने लिखा है—'कहा जाता है कि भारत अनगिनित और विभिन्न जातियो से बसाया हुआ है। इनमें से एक भी मूल में विदेशी नहीं थी, बल्कि सब की सब इसी देश की थी—भारत मे बाहर से आकर कोई उपनिवेश नहीं बसा।'

स्मृतियो मे मानव धर्मशास्त्र पुराना है। उसके लेख से

भी ज्ञात होता है कि ब्रह्मर्षि देश, मध्य देश और आर्यावर्त अत्यंत प्राचीन और देवताओं तथा ब्रह्मर्षि लोगों के बनाए हुए हैं। मनु ने कहा है कि मध्य देश से ही पृथ्वी के सब लोग शिक्षा ग्रहण करें। इससे भी पता चलता है कि हमारे देश में ही आर्य संस्कृति का उदय हुआ और यही उस संस्कृति के विकास का मूल क्षेत्र है।

पर यूरोप के विद्वानों का मत दूसरा है। आर्यों के आदि निवास के संबंध में उन्होंने अनेक अटकलें लगाई हैं। विभिन्न विद्वानों ने पश्चिमोत्तर यूरोप, आरमीनिया, इराक-वैबिलन, यूराल, दान्यूब काँठा वा साइबेरिया के आर्यों का मूल देश होने का अंदाज़ लगाया है। पर वहाँ के अधिकांश विद्वानों ने यह श्रेय मध्य एशिया को दिया है। उनकी राय में आर्यों की टुकड़ियाँ यहीं से दक्षिण, दक्षिण-पूर्व और पश्चिम की ओर फैलीं। जो टोलियाँ सुदूर पश्चिम गईं उनके वंशज आज के यूरोपियन राष्ट्र हैं। जो ईरान और भारत की ओर आईं उनकी संतान ईरानी और भारतीय आर्य हुए।

भारत में अंग्रेजी राज्य के ज़माने में इस मध्य-एशिया-वाद को ही सरकारी तौर पर स्वीकार कर लिया गया है। आजकल हमारे यहाँ के ग्रामीण पाठशालाओं से लेकर विश्व-विद्यालयों तक यही बात पढ़ाई जाती है। हमारे देश के उन सब लोगों की जिन्हें थोड़ी या बहुत आधुनिक शिक्षा मिली है

यही धारणा है कि आर्य आज से दो-चार हज़ार वर्ष पूर्व उत्तर-पश्चिम की ओर से हमारे देश में आए; इसके पहिले वे लोग मध्य-एशिया में ही रहते थे। यूरोपीय विद्वानों की ही तरह अपने देश का आधुनिक शिक्षित वर्ग आर्यों के बाहर से आकर भारत पर आक्रमण करने और धीरे-धीरे यहाँ के आदिम निवासियों पर विजय प्राप्त कर इस देश पर अपना आधिपत्य जमा लेने का सिद्धांत ध्रुव सत्य मानता है।

इस सिद्धांत के प्रतिपादक मैक्सम्यूलर तथा भाषा विज्ञान के अन्य कई पंडित अपने मत की पुष्टि में बहुत-सी दलीलें देते हैं। उनका कहना है कि उत्तर भारत से लेकर पश्चिमी यूरोप तक के निवासी—बीच के थोड़े से भाग को छोड़कर, ऐसी भाषाएँ बोलते हैं जो किसी समय एक ही भाषा से निकली थीं। इस भाषा-साम्य का यही कारण हो सकता है कि किसी समय इन सब के पूर्वज एक थे। मैक्सम्यूलर के शब्दों में, एक ऐसा समय था जब भारतीय, ईरानी, यूनानी, रोमन, रूसी, केल्ट और जर्मनों के पूर्वज एक ही छत के नीचे रहते थे।

इस सिद्धांत की पुष्टि के लिए आर्य भाषाओं के सबसे पुराने ग्रंथ वेद और अवेस्ता टटोले गए। यह अवश्य ही उन दोनों ग्रंथों से ही स्पष्ट है कि जिनके ये ग्रंथ हैं उनका बहुत दिन तक साथ और एक ही इतिहास रहा है। इसी

को आधार बना भाषा-विज्ञान के प्रतिपादकों ने अंदाज़ लगाया कि उन ग्रंथों के निर्माताओं के पूर्वजों का आदि निवास अवश्य ही किसी ऐसी जगह रहा होगा जो संस्कृत—जिसमें वेद हैं, और ज़ेन्द—जिसमें अवेस्ता है, बोलने वालों के निकट पड़ता होगा। वहीं से एक शाखा ईरान गई होगी, दूसरी भारत आई होगी और तीसरी पश्चिम दिशा में अनार्यों से मिलती मिलाती यूरोप जा पहुँची होगी।

उस आदि निवास की खोज में उन प्राचीन ग्रंथों में रहन-सहन, विचार-व्यवहार आदि के संबंध में दिए विवरण से मिलान कर पाश्चात्य विद्वानों ने यही अंदाज़ लगाया कि मध्य एशिया में ही वे सब बातें मिलती हैं; इसीलिए आर्यों का मूल स्थान भी वहीं मान लिया गया।

पर पाश्चात्य विद्वानों की इस कल्पना के विरुद्ध कई आक्षेप रह जाते हैं। आर्य अपना मूल स्थान छोड़कर इधर उधर क्यों चले गए और आज आर्यों का वह 'आदिम निवास' क्योंकर पूर्णतया आर्य-शून्य हो गया इसका स्पष्टीकरण नहीं हो पाता।

कई भारतीय विद्वानों ने भी इस प्रश्न पर स्वतंत्र रूप से विचार किए हैं। उन्होंने भी आर्यों के आदि निवास के संबंध में पूरी छानबीन की है। इसी सिलसिले में उन्हें प्रचलित पाश्चात्य मत का भी खंडन करना पड़ा है। ऐसे

विद्वानों में सर्वप्रथम लोकमान्य बाल-गंगाधर तिलक थे। वही सबसे पहले वैसे विद्वान हुए जिन्होंने अपने मत के समर्थन में वेदों के विश्लेषण करने की आवश्यकता अनुभव की। अन्वेषण का यही सही रास्ता था। पृथ्वी का सबसे पुराना ग्रंथ—वेद के ही रहने के कारण किसी भी मत के प्रतिपादन करने के पहले यह जांच लेना आवश्यक हो जाता है कि वेदों के साथ उस मत का सामंजस्य है या नहीं।

इस दिशा में खोज करते समय लोकमान्य तिलक का ध्यान इस ओर भी गया कि वेद-मंत्रों का पुरानापन उनमे दिए हुए ज्योतिष संकेतों से निश्चित किया जा सकता है। वेदों के ऐसे ही संकेतों के आधार पर उन्होने यह प्रमाणित किया कि वैदिक सभ्यता लगभग दस हज़ार वर्ष प्राचीन प्रतीत होती हैं।

पर उस काल के हमारे आर्य पूर्वजों के रहन-सहन, रीति-रिवाज, विचारधारा तथा ऋतुओं के संबंध मे वेद में दिए गए वर्णन के आधार पर लोकमान्य इस परिणाम पर पहुंचे कि पृथ्वी का वह भाग जो उत्तरीय ध्रुव के पास है किसी समय मनुष्यों के बसने योग्य था। आज से लगभग दस हज़ार वर्ष पहिले वही आर्यों का आदि देश था। हिम और सर्दी के प्रकोप बढ़ जाने पर आर्यों को वहां से हट जाना पड़ा। उनमें से कुछ यूरोप जा बसे, कुछ ईरानी हुए और

कुछ भारत आए। अवेस्ता के वर्णन से भी लोकमान्य ने अपने इस सिद्धांत की पुष्टि की।[1]

---

1. श्री सम्पूर्णानंद ने 'आर्यों के आदि देश' में तिलक के मत का विस्तृत विवेचन किया है। निम्नलिखित युक्ति उनके ही आधार पर है —

अवेस्ता की पहली पुस्तक वेंदिदाद के पहले फ़र्गद (अध्याय) में कुछ ऐसे वाक्य हैं जिनसे आर्यों के निवास के संबंध में विद्वानों को कुछ संकेत मिलता है। उसमें जगत के स्रष्टा, धारण करने वाले, धर्म तत्व अहुरमज़्द ने कहा है—'मैं अहुरमज़्द ने जिन अच्छे देशों की सृष्टि की उसमें सर्व प्रथम ऐर्यन वेइजो है।' उसी फ़र्गद में आगे चलकर कहा गया है—'जिस पंद्रहवें अच्छे देश को मैंने उत्पन्न किया वह हप्त हिंदु (सप्तसिंधव) था।' सोलहवें और आखिरी देश का नाम रंघ (रंघ के किनारे की भूमि—अरविस्ताने रूम इराक) दिया गया है। इस फ़र्गद में जिन देशों का उल्लेख है उनके आधार पर कुछ विद्वानों का ख़्याल है कि वहाँ वहाँ ईरानी आर्यों ने यात्रा की है और जिस ऐर्यनवेइजो से वे चले थे वही उनका आदिम स्थान था। पर तब प्रश्न उठता है—आख़िर वह ऐर्यनवेइजो ही कहाँ था? कुछ लोगों ने अनुमान किया कि वह स्थान ईरान के उत्तर में कहीं है। लोकमान्य तिलक का अनुमान था कि वह स्थान केवल ईरानी आर्यों का ही नहीं वरन सब आर्यों का बीज वहीं उत्तरीय ध्रुव प्रदेश में था।

दूसरे भारतीय विद्वान लोकमान्य के इस अनुमान से सहमत नहीं हैं। उनका कहना है कि अवेस्ता के उस कथन का अर्थ उस ढंग पर लगाने से यदि ऐर्यनवेइजो आर्यों का मूलस्थान था तो रंघ (ईराक) उनका अंतिम स्थान हुआ। पर वैसी बात तो नहीं है। अवेस्तावालों का अंतिम घर तो ईरान था, उसका ज़िक्र ही उस फ़र्गद में नहीं है। दूसरी बात है कि उस फ़र्गद में वर्णन किये गये देशों की यात्रा का कोई क्रम नहीं है। वह विचित्र ढंग से मारे-मारे फिरने की तरह है। देशों के छोड़ते जाने के कारण भी असाधारण ढंग के बतलाए गए हैं।

कुछ विद्वानों के अनुसार अवेस्ता में दी गई इस ढंग की यात्रा का कारण ईरान आर्यों की एक कथा हो सकती है जिसमें स्वर्ग की दरिया वगुही और रंघ का जिक्र आता है। इसीलिए यह सूची वगुही के किनारे के एक नगर से आरंभ हो रंघ के किनारे समाप्त की गई है। कुछ विशेषज्ञों का कथन है—संभव है ईरान में बसने के पहले का ही वर्णन ऐर्यनवेइजो से रंघ तक की यात्रा में किया गया है पर जिस समय का यह फ़र्गद है उस समय यात्राक्रम की ठीक-ठीक स्मृति नहीं रह गई थी, इसलिए नाम यों ही गिना दिए गए हैं। कई विचारक यह संभव मानते हैं कि सप्तसिंधव से अलग होने के बाद असुरोपासक आर्य ऐर्यनवेइजो में—जो ईरान के पास ही उसके पश्चिमी छोर पर था, कुछ काल सुख से बसे, पर वहाँ सर्दी का प्रकोप आरम्भ होने पर दूसरी जगह चले गए। उन दूसरे देशों में

लोकमान्य तिलक के बाद जिन भारतीय विद्वानों ने इस महत्वपूर्ण प्रश्न पर विचार किया है उन्हें अब इधर आकर ऐतिहासिक सामग्री भी बहुत मिली है जो लोकमान्य को प्राप्य नहीं थी। ऐसे लोगों में श्री अविनाशचन्द्र दास जैसे विशेषज्ञों ने अपनी पुष्टि में भूगर्भशास्त्र के अनुसंधानों का समुचित उपयोग करते हुए प्राचीन भारतीय मत का ही समर्थन किया है कि हमारे आर्य पूर्वज भारत के ही निवासी थे। ये विद्वान लोकमान्य तिलक के निर्दिष्ट पथ का अनुसरण करके भी उनसे भिन्न परिणाम पर पहुँचे हैं। उनकी दी हुई युक्तियों द्वारा मध्य-एशियावाद का सिद्धांत भी खंडित हो जाता है।

इन भारतीय विद्वानो का कहना है कि मध्य-एशियावाद की सारी इमारत की नीव में जो कल्पना है वही विवाद का विषय है। भाषा-विशेषज्ञ यह सिद्ध करने की चेष्टा करते हैं कि यदि बहुत बड़ी संख्या में आर्य सारे यूरोप में नहीं बसे तो उनकी भाषा फैली कैसे? पर भाषा के इस प्रसार के लिए उनके बोलनेवाले एक ही पूर्वजों का होना कुछ जरूरी नही है। यह

भी असुविधा अनुभव करने पर वे फिर ईरान आ गए होंगे। संभव है इनकी और शाखाएँ ईरान में पहले से बसी भी हों। पुन सम्मेलन के बाद सब शाखाओं और स्मृतियों को मिलाकर ही मज़्द धर्म ने अपना अंतिम स्वरूप पाया होगा।

जो भी हो, अवेस्ता के आख्यानों के आधार पर यह मान भी लिया जाए कि ऐर्यनवेइजो आर्यों का मूल स्थान था फिर भी उसका ध्रुव प्रदेश में होना सिद्ध नहीं होता।

निश्चित है कि प्राचीन भारत में भारत का संबंध, विशेषकर व्यापारिक संबंध, बहुत दूर दूर के देशों से था। आर्य भाषा कुछ तो इस प्रकार जा सकती थी और अवश्य ही गई भी होगी। दूसरे आर्यों के आदिनिवास से समय समय पर कुछ लोग अवश्य निकले और इधर उधर फैले। वे जहाँ पहुँचे वहाँ वालों की अपेक्षा अधिक सभ्य और जीवन-संग्राम के लिए अधिक सन्नद्ध थे, इसलिए उनकी धाक बैठ गई, आर्य भाषा सर्वत्र फैल गई। परिस्थिति के अनुसार कहीं उसका रूप अधिक शुद्ध रहा तो कहीं उसमें पूर्व प्रचलित भाषाओं के शब्द मिल गए।[२]

भाषा और सभ्यता के बाहरी आडंबर के एक होने से वंश की एकता सिद्ध नहीं होती। सबसे बड़ा उदाहरण अंगरेजी का है। आजकल पृथ्वी के अनेक प्रदेशों के वैसे निवासी अंगरेजी बोलते और अंग्रेजों के खान-पान, वेष-भूषा आदि की नकल करते हैं जिनकी अंगरेजों से कोई समता नहीं है। नकल करने वाले अंग्रेजों से सर्वथा भिन्न हैं। सिर्फ

---

२ कई विद्वानों का ऐसा मत है कि आज से दस बारह हजार वर्ष पहले ऐसे अर्धसभ्य मनुष्य जो खेती करना और पशु पालना जानते थे भारत ईरान या एशिया के दक्षिण-पश्चिम के किसी अन्य भाग से जाकर यूरोप में फैले। वे ही यूरोप की गोरी जातियों के पूर्वज थे। इस संबंध में खोज करने वाले अविनाशचंद्र दास जैसे विद्वान ऐसा अनुमान करते हैं कि ये अर्धसभ्य लोग आर्यों की ही शाखा थे। इन अर्धसभ्य लोगों को भी उन्नति को उस अवस्था तक पहुँचने में अपने मूल देश में कई हजार वर्ष लगे होंगे।

भाषा की समता का यदि ख़्याल कर सब अंग्रेज़ी बोलने वालों के एक होने का सिद्धांत बनाया जाए तो वह सरासर गलत होगा।

आर्यों के आदिनिवास का पता लगाने के लिए प्राचीन आर्य पूर्वजों की स्मृति का ही सहारा लिया जाना चाहिए। वेदों के रचयिताओं की जनश्रुति तथा स्मृति हमें बहुत ही प्राचीन काल की याद दिलाती हैं। ऋग्वेद की भाषा की प्रौढ़ता ही इसका प्रमाण है कि वह कई हज़ार वर्ष के परिष्कार के बाद अपने तत्कालीन रूप में आई थी। फिर उन वेद-मंत्रों के रचयिता वैदिक ऋषि ही जब अपने से भी पहले काल की ओर संकेत करते हैं तो वे हमें निःसंदेह बहुत पुराने ज़माने की ओर खींच ले जाते हैं।[३] हमारे पूर्वजों ने उन वेद मंत्रों में अपनी पुरानी से पुरानी स्मृतियों की यथासंभव रक्षा की है।

ऋग्वेद के एक मंत्र से यह अर्थ निकलता है कि उन दिनों सूर्य की दक्षिणायन यात्रा मध्य में पूरी होती थी और फाल्गुनी से यात्रा आरंभ होती थी।[४] ज्योतिष के अनुसार यह बात आज से सोलह हज़ार वर्ष पहले की है। यहाँ यह बात भी

---

३. ऋक् १ ११६,२ में कहा गया है कि बहुत प्राचीन काल में पूर्वज लोग वेदमंत्र गाया करते थे और वे तभी से चले आ रहे हैं।

४ ऋक् १०-८५ ११।

ध्यान देने योग्य है कि जिन लोगों को ज्योतिष का इतना सूक्ष्म ज्ञान था उनकी संस्कृति उस समय भी कई हजार वर्ष पुरानी रही होगी। वे पुराने मंत्र भी अपने समय से बहुत पहले—आर्यों के पूर्व पुरुषों के जमाने—का संकेत करते हैं जिनसे यह अनुमान किया जाता है कि जब वे मंत्र बने उससे दस हजार वर्ष से कम पहले की वे बातें न होंगी। इसका तात्पर्य यह निकलता है कि ऋग्वेद काल पचीस हजार वर्ष से पहिले की ही ओर जाता है। सबके सब मंत्र उसी जमाने की चर्चा नहीं करते पर कुछ मंत्रों में उस समय की स्मृति और झलक अवश्य है। उनसे यह निष्कर्ष अवश्य निकलता है कि ऋग्वेदीय काल तब से ही आरंभ हुआ और ऋग्वेदीय आर्य-संस्कृति का विकास तब से ही शुरू हुआ। भूगर्भशास्त्र के अनुसंधानों से भी इस मत की पुष्टि होती है।

आर्यों के उतने प्राचीन काल के वर्णन से भी यही स्पष्ट होता है कि उन्हें किसी भी दूसरे देश की स्मृति नहीं थी। जहाँ तक उनकी स्मृति काम करती थी, जहाँ तक उनकी जन-श्रुतियाँ थी, अपने वर्णन में उन्होंने सप्तसिंधव का ही नाम लिया है।[५] हमारे पूर्वजों की दृष्टि में इसका ही महत्व है। इसी को वे देवकृत योनि—ईश्वर निर्मित देश—मानते थे।

---

५. ऋक् १ ३२ ११, १२ जैसे मन्त्रों में कहा गया है कि वृत्र को मार कर सप्तसिंधुओं में जल को प्रवाहित कराना ही इन्द्र का प्रथम पराक्रम था।

वेद कहीं संकेत भी नहीं करते कि इस प्रदेश में बसने के पूर्व आर्यों के पूर्वज कहीं अन्यत्र बसते थे। उनके वर्णन से ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होने सप्तसिंधव के सिवा दूसरा कोई देश देखा ही नहीं। जिन मंत्रों से आर्यों द्वारा कभी पत्थर के शस्त्र चलाए जाने का संकेत मिलता है वह 'प्रस्तर-युग' भी उन्होने सप्तसिंधव में ही बिताया प्रतीत होता है।[६]

इन सारी दलीलों का यही निष्कर्ष निकलता है कि आज से पचीस हजार वर्ष से भी पूर्व आर्य सप्तसिंधव में बसे थे। यही देश उनकी संस्कृति के विकास का क्षेत्र है। यहाँ ही हमारे देश के प्राचीनतम साहित्य का निर्माण हुआ और इसे ही हिन्दू परंपरया अपना आदि निवास मानते आए हैं।

---

६. 'इन्द्रासोमावर्तयत'—ऋक् ७-१०४, ५।

विकास के क्रम

सृष्टि के आदि मे क्या था, धर्म का स्वरूप कैसा था आदि बातो पर हमारे वैदिक पूर्वज बहुत प्राचीन काल से विचार करते आए हैं। उनके लिए धर्म का लक्षण प्रेरणा थी। यह प्रेरणा ही उस मानव संस्कृति की नीव डालती है जिसके बल पर सब तरह के आविष्कार होते हैं। उन आविष्कारों के परिणाम-स्वरूप जो चीजें तैयार होती हैं उनके बल पर ही मानव सभ्यता बनती है और उसका विकास होता है।

हजारो वर्ष तक विचार करते आने पर भी वेद इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि आदमी नित्य धर्म की लबी डीग भले ही हांक ले पर वस्तुतः सृष्टि के आदि में क्या था, धर्म का स्वरूप कैसा था आदि के विषय मे वह कुछ नही कह सकता। यमाख्यान में यमी अपने भाई से कहती है—'प्रथम दिन की बात कौन जानता है? किसने उसे देखा है? किसने

उसका प्रकाश किया है? मित्र और वरुण का यह जो महान धाम है उसके विषय में, हे मोक्ष-बंध कर्ता यम, तुम क्या कहते हो? (तुम कुछ नहीं कह सकते।)'

वास्तव में ही जब हम सृष्टि की और सब बातें छोड़ कर सिर्फ मानव इतिहास की ही ओर दृष्टि डालते हैं तो उसके प्रथम अध्याय के बारे में हमें अधिकतर अटकलों का ही सहारा लेना पड़ता है। आदिम मनुष्यों में योग्यता वा प्रेरणा का इतना अभाव था कि वे अपनी हड्डियों के सिवा और कोई निशानी नहीं छोड़ जा सकते थे। उनके वंशजों को पशु पालने, हड्डी वा पत्थर के शस्त्र बनाने अथवा चट्टानों को खोदकर उनपर चित्र अंकित करने की कला सीखने में पचासो हजार वर्ष लग गए थे। उस समय उन्हें शायद आग जलाना भी न आता होगा। वनैले पशुओं का शिकार ही उनका मुख्य जीवनोपाय रहा होगा। अधिक से अधिक तो वे हड्डी वा पत्थर के वैसे हथियार बना सकते थे जो पैने, लंबे तथा नुकीले होते थे। मनुष्य समाज का यही प्रारंभिक चित्र है।

एक क्षण के लिए हम उस समय की कल्पना करें जब मानव ने पहले पहल आग का आविष्कार किया होगा। यह अवश्य ही बहुत बड़ा आविष्कार रहा होगा। इसने उस आविष्कार के दिन से मनुष्य की जीवन-धारा में ही

एक बहुत भारी पल्टा ला दिया होगा। उनकी प्रेरणा जाग्रत करने, उनकी विचार-शक्ति निर्धारित करने के मामले मे भी इस आविष्कार का कम महत्व का प्रभाव नहीं पड़ा होगा। ठीक वैसे ही महान् परिवर्तन धातुओ के आविष्कार के सिलसिले मे घटे होगे। मनुष्य समाज की सब उप-जातियो को इन महान परिवर्तनों की अवस्था से होकर आगे बढ़ना और विकास करना पड़ा है।

अपने पूर्वज—वैदिक आर्यों के इतिहास पर दृष्टि फेरने पर पता चलता है कि उन आरभिक आविष्कारो और महान् परिवर्तनों के बीते इतने दिन हो गए थे कि उन्हे अपने-अपने विकास की उस प्रारंभिक यात्रा की कोई स्मृति नही रह गई थी। ऋग्वेद मे भी उस काल का उल्लेख नही है। अपने देश की इस प्राचीनतम गाथा मे हम आर्यों को ग्रामो और नगरो मे बसा पाते हैं। उन दिनो वे खेती करने लगे थे। उनके समाज की निश्चित व्यवस्था थी, उन्हे धातुओ का ज्ञान था तथा उनकी अपनी परिमार्जित उपासना विधि थी। अपने आदि निवास सप्तसिंधव मे ही हमे आर्य उस अवस्था मे मिलते हैं जब न सिर्फ उनकी संस्कृति ही काफी उन्नति कर चुकी थी बल्कि उनकी भाषा भी इतनी प्रगति कर चुकी थी कि उनके हृदय के उद्गारो का स्रोत सुन्दर छन्द-बद्ध कविता के रूप मे प्रस्फुटित होकर निकलने लगा था। उनकी वे

रचनाएँ हमें अपने देश तथा अपने पूर्वजों के इतिहास के उन अध्यायों की ओर ले जाती हैं जो आज से पचीस हज़ार वर्ष से भी पहिले लिखा गया था। ऋग्वेद काल—श्रुतिकाल तब से ही आरंभ हुआ है।

इतने हज़ार वर्ष के लंबे अरसे में श्रुति का बहुत-सा भाग लुप्त हो गया है। समय समय पर नई श्रुति भी प्रगट होती रही है। बहुत-सी पुरानी बातें नए मंत्रों के द्वारा भी व्यक्त की गई हैं। पुराने मंत्रों की भाषा भी परिवर्तित हुई है। पर इन सब परिवर्तनों के बावजूद भी अपने यहाँ के प्राचीन ज्ञानी ऋषि पुरानी स्मृतियों की यथा संभव रक्षा करते आने में सफल हुए थे। इस क्षेत्र में उनके अति उच्चकोटि के प्रतिभाशाली और विचारशील रहने के ही कारण हमारा इतिहास लुप्त नहीं होने पाया है।

पर समय इतना बीत चुका है कि उस प्राचीन इतिहास के विकास का ठीक-ठीक क्रम समझ लेना आजकल के दिनों में वैसा आसान नहीं रह गया है। वेदों में हड्डी और पत्थर के अस्त्रों से लेकर लोहे के बने अस्त्रों तक की चर्चा है। ऋग्वेद में एक स्थान पर कहा गया है कि पर्वत में छिपे दधीचि को इन्द्र ने सर्वनावत सरोवर में पाया। उसी दधीचि नामक जानवर की हड्डी से वज्र बना।[७] कभी पत्थर के शस्त्र

७. ऋक् १-८४, १३।

चलाए जाते थे इसका संकेत और एक मंत्र से मिलता है जिसमें कहा गया है—'इन्द्र और सोम अंतरिक्ष से चारों ओर आयुध भेजो। अग्नि से तपाए हुए, तापक प्रहार वाले, अजर और पत्थर के बने अस्त्रों से राक्षसों के पार्श्व स्थान को फाड़ो। वह चुपचाप भाग जाएँ।'[८] और स्थानों पर इन्द्र के मरुद्गणों के अश्वारोही, पगड़ी धारी और वर्मधारी होने का ज़िक्र है।[९] वेदों में सोना, चांदी, तांबा के साथ-साथ लोहे का भी उल्लेख है।

हड्डी से लेकर लोहे तक का सारा विकास एक बार ही नहीं बल्कि अवश्य ही क्रम से हुआ होगा। वेदमंत्रों में ऐसी जितनी चीजों का ज़िक्र आया है, चाहे उनसे संबंध रखने वाले मंत्र पास-पास ही क्यों न आए हों, जिन अलग अलग चीजों का वे वर्णन करते हैं उनके विकास के क्रम में हज़ारों वर्ष का अंतर स्पष्ट प्रमाणित होता है। इसलिए हमें उनके आधार पर अपने प्राचीन इतिहास के विकास क्रम को समझने के लिए कुछ खास पैमाने ढूँढ़ निकालने की आवश्यकता पड़ती है।

इन पैमानों में एक विचारों के विकास की सीढ़ियाँ हो सकती हैं। पर उनकी पहचान कर पाना कम कठिन नहीं

---

८ ऋक् ७-१०४,५।

९. ऋक ७-२५,३, ५-५७,८, ५-५४,११ इत्यादि।

आठ दस हज़ार वर्ष के वाद के काल मे वेद जैसे पुराने ग्रथ तथा उससे सबध रखते प्रमाण ऐतिहासिक खोज की काफी सामग्री जुटा देते हैं ।

उन प्रमाणो की पुष्टि ऐतिहासिक लहरो के आघात-प्रतिघात तथा भारतीय सभ्यता के विकास मे उनसे मिलनेवाले प्रोत्साहन के झोको से भी होती है। एक उन्नत सभ्यता जब दूसरी समुन्नत सभ्यता से टकराती है तब उन सभ्यताओ के अनुयायियो की अनिच्छा रखने और उनके हज़ार बाधा डालते रहने पर भी उन दोनो सभ्यताओ मे आदान-प्रदान की क्रिया आरम्भ हो जाती है। यह आदान-प्रदान तत्कालीन सार्वजनिक जीवन को इस भाँति हिलाने लगता है कि उस समय का इतिहास एक समय-विशेष मे उनकी लहरो से ही आच्छादित हो गया दीखता है। वे समय ही असल मे ऐतिहासिक धारा के घुमाव बनाते हैं।

हमारे देश के इन घुमावों पर का इतिहास अध्ययन करने से स्पष्ट हो जाता है कि सभी मानव सभ्यताओ के बीच आर्य सभ्यता के सबसे पुरानी और उच्चकोटि की रहने के ही कारण वह बहुतरी प्राचीन सभ्यताओं को प्रभावित कर सकी थी, और अपने साथ-साथ उन्हें भी क्रम से विकास की काफी ऊँची सीढियो पर खींच लाने मे सफल हुई थी।

इतिहास पुराण

अपने देश के प्राचीन साहित्य में हम ज्ञान का अगाध भंडार पाते हैं। वह ज्ञान ही प्राचीन आर्यों की प्रतिभा और विचारशीलता का परिचायक है। आज भी उसी के प्रकाश में हम अपनी जीवनशक्ति का दर्शन करते हैं और वही हमें अपने देश के प्राचीन इतिहास से परिचित कराता है।

हमारे उस प्राचीन ज्ञान-भंडार की शाखाएँ भी अनेक थीं। उनमें अब बहुत-सी लुप्त हो गई हैं, पर जितनी प्राप्य है वे भी कम नहीं हैं। भंडार में प्रवेश कर पाने के लिए प्राचीन विद्वानों ने अनेक शास्त्र और विद्याओं के विभिन्न द्वार बना रखे थे। इस संबंध में कुछ परिचय हमें छान्दोग्योपनिषद् से भी मिलता है। नारद ने सनत्कुमार से कहा है—'भगवन्! मैं ऋग्वेद जानता हूँ, यजुर्वेद, सामवेद, चौथे अथर्ववेद, पांचवें इतिहास-पुराण, वेदों के वेद—व्याकरण,

पितृकर्म, गणितशास्त्र, भाग्यविज्ञान, निधिज्ञान, तर्कशास्त्र, नीतिशास्त्र, देवों का ज्ञान, भक्तिशास्त्र, पांच तत्वों की विद्या, धनुर्वेद, ज्योतिष शास्त्र, सर्प-ज्ञान, गंधर्वसंगीत, नृत्यविद्या मैं जानता हूँ। हे भगवन्! यह सब मैं अध्ययन करता हूँ! मुझे ये विद्याएँ आती हैं।' ११

आर्यों के ज्ञान और उनकी सब विद्याओं को केन्द्रित कर उसका वर्गीकरण करने तथा उसके आगे की खोज और उन्नति का रास्ता बाँध देने का श्रेय कृष्णद्वैपायन वेदव्यास मुनि को है। वेद का अंतिम और प्रामाणिक संकलन *उन्होंने ही किया था, इसीलिए वेदव्यास उनका पद है।* ये महाभारत युद्ध के समय तक जीवित थे। अपने समय के ये सबसे बड़े संकलनकर्त्ता, संपादक और असाधारण प्रतिभासम्पन्न विद्वान थे।

वेदव्यास ने अपने काल के संपूर्ण ज्ञान के पांच विभाग किए। ऋक्, साम, और यजु—तीन वेदों को त्रयी बतलाने के साथ-साथ अथर्ववेद और इतिहास-पुराण की भी उन्होंने वेद में ही गिनती की। वंशपरंपरा से चली आने वाले आख्यानों, उपाख्यानों, गाथाओं, वंश विषयक उक्तियों आदि के आधार पर ही उन्होंने 'पुराण-संहिता' की रचना की थी। अवश्य ही उनके काल के पूर्व से ही वेदों के साथ-साथ इतिहास

११ छान्दोग्योपनिषद्, प्रपाठक सातवाँ, पहला खंड।

पुराण भी निश्चय रूप से थे नहीं तो उनकी संहिता नहीं बन सकती थी।

वेदव्यास के विभाग के अनुसार अपने देश का इतिहास जानने के लिए हमें 'इतिहास पुराण' अध्ययन करने की आवश्यकता है। हमारे यहाँ इन पुराणों में ही अपने देश का इतिहास सुरक्षित रखने की प्रथा थी। इनमें हमें बहुत-सी ऐतिहासिक सामग्री के साथ-साथ प्राचीन वंशावलियाँ भी मिलती हैं।

हमारे देश के प्राचीन विद्वान पुराणों को बहुत आदर और श्रद्धा की दृष्टि से देखते थे। वायु पुराण ने अपने को 'ब्रह्मोक्त' और 'वेद सम्मत' बतलाते हुए कहा है—'इतिहास एवं पुराणों के अध्ययन से वेदों का ज्ञान बढ़ाना चाहिए—परिष्कृत करना चाहिए। जो मनुष्य इतिहास-पुराणों का ज्ञान प्राप्त किए बिना ही वेदों में हाथ डालता है, उस अल्प विद्या वाले से वेद डरते हैं कि कहीं यह हम पर प्रहार न कर बैठे—अर्थ का अनर्थ न कर डाले।'[१२]

ऐतिहासिक घटनाओं के उल्लेख का पुराणों का मुहावरा प्रायः—'इत्येवमनुशुश्रुम'—हमने ऐसी बात परंपरा से आती सुनी है, रहता है। वेदव्यास के प्रशिष्य सूत ने सर्वप्रथम मुनियों तथा और लोगों को नैमिषारण्य में 'पुराण-संहिता'

१२. महाभारत—आदिपर्व।

सुनाई थी। पर उसके बाद भी बहुत-सी पुराणों की रचनाएँ हुई हैं। इन नई रचनाओं द्वारा बहुत से प्राचीन परंपरागत इतिहास में नई बातें टाँक दी गई हैं। उनमें कल्पना के अंश भी मिश्रित कर दिए गए हैं। एक नाम के काल्पनिक और वास्तविक व्यक्तियों की ख्यातियों में बहुत गोलमाल कर दिया गया है। वास्तविक ऋषि, राजा तथा अन्य व्यक्तियों की ख्याति, अंधविश्वास-मूलक साधारण प्रचलित विश्वास वा अति प्राचीन काल के नामों के साथ हेर-फेर कर दिए गए हैं।

पर फिर भी प्राचीन अवशेषों के अभाव में ऐतिहासिक धारा के अनेक महत्वपूर्ण घुमावों पर वे पुराण ही हमारे इतिहास के उपकरण हैं। बहुत तरह के अवशेष, अभिलेख, सिक्के तथा विदेशी वृत्तांतों से मिलान करके भी हम पुराणों में दिए गए वृत्तांत की सचाई जाँच करते हैं और सची ऐतिहासिक धारा के साथ-साथ उसके काल का पता लगाते हैं।

इन पुराणों के सिवा, आर्यों के आरंभिक काल के इतिहास और विशेषकर सांस्कृतिक इतिहास की जानकारी के लिए हमें वेदों पर ही निर्भर करना पड़ता है। उनमें तत्कालीन आर्य विचारकों के विचार और कथन ज्यों के त्यों उन्हीं की भाषा और ध्वनि में आज भी हमें उपलब्ध हैं।

वेदों का ऐतिहासिक महत्व

सिर्फ हमारे ही देश का नहीं बल्कि संसार का सबसे पुराना साहित्य हमारे आर्य पूर्वजो का त्रयी—वेद ही है। उसका बहुत सा अश लिपि की कला खोज निकाले जाने के पहले का है। हमारे पूर्वजो ने उन्हे कंठस्थ कर रखा था। साहित्य की 'वह थाती वे अपने हर नए पुश्त को सौंपते गए। उसका बहुत सा अंश विचारों का सच्चा स्वरूप स्थाई रखने तथा याद रखने मे सुगमता के खयाल से छंदोबद्ध काव्य मे कर लिया गया था।

वेद मुख्यतः धर्मपरक हैं। वे प्रत्यक्ष से अगम्य तथा अनुमान के द्वारा अनुद्भावित अलौकिक उपाय बोध कराते हैं। भारतीय मस्तिष्क की उर्वर बनानेवाली विचारधारा का उद्गम-स्थान हमें उनमें ही मिलता है। भारतीय धर्म तथा दर्शन के वे सिर्फ आदिस्रोत हा नहीं बल्कि उनके वे वास्तविक प्राण हैं।

राजनैतिक वा विस्तृत अर्थ में कहा जाए तो—भौतिक इतिहास सुरक्षित रखना अवश्य ही वेदों का कभी भी उद्देश्य नहीं रहा है। पर फिर भी कुछ ऐतिहासिक महत्व रखनेवाली घटनाओं और व्यक्तियों का वे उल्लेख अवश्य करते हैं। उस काल का इतिहास जानने के लिए तत्कालीन अन्य किसी भी प्रामाणिक ऐतिहासिक सामग्री के अभाव में आधुनिक विद्वान वेदों में किए गए उन वर्णनों का ही सहारा लेते हैं।

ये वर्णन ही हमारे देश के प्राचीनतम इतिहास के सबसे अधिक प्रामाण्य आधार बन सकते हैं। उन वर्णनों का अध्ययन करते समय यदि हम विश्वास सूचक देवताओं के क्रम, अस्त्र शस्त्रों के निर्देश और विचार धारा के विकास का भी खयाल रखें तो हम अपने देश के प्राचीनतम इतिहास का पौर्वापर्य निश्चित कर शृंखलाबद्ध इतिहास जान सकते हैं। अनुश्रुति तथा आधुनिक इतिहास और भूगर्भ आदि अन्य शास्त्रों की वैज्ञानिक खोजों के साथ वेद में दिए गए वर्णनों का मिलान कर हम उन घटनाओं की काल स्थिति तथा उनके क्रम आदि की भी जाँच कर सकते हैं। इस ढग के अध्ययन से हमें पौराणिक सामग्री—'इतिहास पुराण' शास्त्र के विकृत स्वरूप को भी ठीक कर लेने में सहायता मिल सकती है।

ऐतिहासिक प्रामाणिकता का जहाँ तक सबध है, वेद के

समान सचाई के उतने निकट हमें शायद ही और कोई सामग्री मिल सकती है। सब प्राच्य विद्वान् यह जानते हैं कि ब्राह्मण लोग वैदिक मंत्रों की रक्षा पर सबसे अधिक जोर देते आए हैं और आज भी दिया करते हैं। वेदों के अक्षर अक्षर गिने हुए हैं। इस धन की क़ीमत हीरे जवाहरातों से भी कहीं अधिक मान हिन्दू जाति उसकी प्राणपण से रक्षा करती आई है। अपने सांस्कृतिक इतिहास की रक्षा की यह प्रेरणा अद्वितीय है। इस प्रेरणा का ही यह परिणाम हुआ है कि जब जीवन संघर्ष, वाह्याक्रमण तथा समय के हेर-फेर के चपेटों से संसार की प्रायः सब प्राचीन संस्कृतियाँ नष्ट हो गई हैं, उन संस्कृतियों के अनुयाई राष्ट्र लुप्त हो गए हैं, हमें आज भी भारतवर्ष में अपने प्राचीन ऋषियों की बोली ठीक उनकी ही ध्वनि और झंकार में सुनाई पड़ती है। उनकी अक्षय विचार धारा आज भी हमारे मस्तिष्क को उर्वर बनाती निरंतर बहती रहती है, और वही आज भी हमारी संस्कृति का अविच्छेद्य अंग बनी हुई है।

वेद मंत्रों का माहात्म्य आज भी हिन्दुओं के बीच इतना प्रबल है कि वे उन्हें ईश्वरकृत और अनादि मानते हैं। उन मंत्रों के साथ जिन ऋषियों के नाम जुड़े हैं वे ही आर्य-धर्म के जीवन-दाता माने जाते हैं। उन्हीं के उपदेशों से आर्य संस्कृति और सभ्यता का निर्माण हुआ है। प्राचीनकाल में

भी इन ऋषियों से बढ़कर आर्यजनो मे और किसी का भी स्थान नहीं था। वे प्रत्यक्षधर्मा, सत्यवक्ता और सत्यनिष्ठ होते थे। उनके शब्द प्रमाण होते थे। धर्माधर्म का यथार्थ निर्णय उन्हीं की वाणी द्वारा होता था। उन्ही के दिए मंत्रो में हमे आर्य जीवन का बहुत ही उज्ज्वल रूप दिखाई देता है।

जहाँ तक समय का सबध है, जिस किसी ने वेदो का थोड़ा-सा भी अंश अध्ययन किया है उन्हे सदेह नही हो सकता कि सब मंत्र एक ही समय के नहीं हैं। ऐसी परिस्थिति मे जब कोई मंत्र अपने वर्तमान रूप मे पहिले पहिले किसी ऋषि के द्वारा आविर्भूत हुआ उसी काल को हम उनका रचना काल कहते हैं। पुराणो ने उन ऋषियो का भी एक अच्छा ज्ञान सुरक्षित रखा है।

महामहोपाध्याय राम शास्त्री ने वेदो की रचना के समय-विस्तार के सबध मे वड़े ही महत्व की खोज की है।[११] उनसे हमे अपने प्राचीन इतिहास के सिलसिले में कई नई बातें मालूम होती हैं। शास्त्रीजी के कथनानुसार सहज बुद्धि हमें यही मानने के लिए विवश करती है कि वैदिक ऋषि दिनो की गणना मत्रो के अक्षरों और कुश आदि से करते थे। 'वेद' शब्द का भी यही तात्पर्य है। इस शब्द का दो अर्थों में उपयोग होता है—'कुश की सख्या' और 'पवित्र मत्रो का

११ विश्ववाणी—सस्कृति अंक (प्रथम खंड)

संग्रह'। वेद का शाब्दिक अर्थ है—'ज्ञान'। इससे स्पष्ट है कि वैदिक कवि वेद से कुश की संख्या और पवित्र मंत्रों के अक्षरों की संख्या—जिनसे उनके युग को प्रारंभ हुए कितने दिन बीते, इन दो बातों का हिसाब रखते थे।

उन वैदिक आर्यों को दैनिक जीवन की आवश्यकताओं से ही आरंभ में उस तरह के हिसाब रखने की प्रेरणा मिली थी। कृषि उनका एक महत्वपूर्ण धंधा था और पूर्णिमा तथा शुक्ल दूज के दिन यज्ञ करना उनके लिए धार्मिक और नितांत आवश्यक था। यह बहुत संभव है कि शुरू शुरू में अपने अपने कृषि के हित में ऋतुओं के ठीक ठीक पहचानने और यज्ञ आदि के लिए पूर्णिमा आदि तिथियों का निश्चित बोध करने में वैदिक ऋषियों को बहुत परेशानी हुई होगी। आगे चलकर इसी प्रेरणावश वैदिक ऋषियों ने वर्ष, मास और दिन गिनने के तरीके निकाले होंगे।

रामशास्त्री के अनुसार, वैदिककाल में, चाहे उसका समय कुछ हो, लिखने की कला से लोग परिचित न थे। लिखने की कला के अभाव के कारण किसी भी बात को याद उन्हें स्मृति में रखनी पड़ती थी। इस बात के भी दोहराने की आवश्यकता नहीं कि वैदिक ऋषि स्मरणशक्ति बढ़ाने को बहुत महत्व देते थे। ऐसी परिस्थिति में कितने वर्ष बीतते जाते हैं इसका हिसाब रखने के लिए वे प्रतिवर्ष

किसी न किसी छंद मे ऐसे नए नए मंत्र रचते थे जिनके अक्षरों की संख्या तीन सौ साठ होती थी।

ऐतरेय आरण्यक मे इस बात को कि मंत्र का प्रत्येक अक्षर प्रत्येक दिन को व्यक्त करता है और भी स्पष्ट रूप से कहा गया है—'एक हजार बृहति छंदों से यह संपूर्ण होता है और वह मंत्र पूर्ण है जिसमे एक हजार बृहति छंद हो, जिनके छत्तीस हजार अक्षर हों। एक सौ वर्ष में इतने ही—छत्तीस हजार दिन होते हैं। व्यंजनो से रातें बनती हैं और स्वरो से दिन।'

वैदिक मंत्र दिमाग और कान को मधुर लगते थे और कुश आँखो को संतोष देते थे। इस तरह ये दो प्रकार के वेद वर्ष और दिनो का हिसाब रखने और उनमे किसी तरह की गलती न होने देने के सच्चे उपाय थे। वैदिक आर्य कुश को चार अथवा बावन वर्षों के युग के बाद यज्ञ में आहुति की तरह डाल देते थे, पर वैदिक मंत्रों को जिनमें नई से नई और बिलकुल आरंभ की पुरानी ऋचाएँ शामिल होती थीं, इतनी सावधानी के साथ कंठस्थ कर लेते थे कि उनका एक भी अक्षर घट बढ़ नही सकता था। इस प्रकार एक लंबे काल तक वेदों से दो मतलब सिद्ध हुए—देवताओ की उपासना और दिनों तथा वर्ष की गणना।

प्रत्येक युग की समाप्ति पर उस युग में जितने दिन होते

थे उतने ही अक्षरों के मंत्र रचे जाते थे। इस ढंग से वैदिक ऋषि बीते हुए दिनों का हिसाब रखते थे और इसी हिसाब से वे दूज और पूर्णिमा की तिथियों का ठीक ठीक अनुमान कर सकते थे।

इसी सिद्धांत को सामने रख कर सतपथ ब्राह्मण के रचयिता ने ऋग्वेद के समस्त अक्षरों को जोड़ डाला है और वह कितने वर्ष में रचा गया इस का हिसाब लगाया है। इस तरह ऋग्वेद के ३६ अक्षरों वाले १२,००० वृहति मंत्रों के ४,३२,००० अक्षर हो जाते हैं। इस हिसाब से संपूर्ण ऋग्वेद १,२०० वर्ष में रचा गया। सतपथ ब्राह्मण के रचयिता यजुर्वेद और सामवेद का रचना-काल भी १,२०० वर्ष मानते हैं, इस हिसाब से समस्त वेद २,४०० वर्ष में रचे गए प्रतीत होते हैं।

किन्तु अन्य बातों पर ध्यान देने पर विद्वानों को प्रतीत होता है कि यजुर्वेद और सामवेद के मंत्रों की रचना ऋग्वेद के मंत्रो की तरह दिनों की गणना ध्यान में रखते हुए नहीं हुई थी। उनके अध्ययन से यह मानना पड़ता है कि बाद में मंत्रों के क्रम और विषय तत्व में भी थोड़े बहुत हेरफेर हुए हैं। पर यह हेरफेर इतना साधारण अंतर लाता है कि सतपथ ब्राह्मण के रचयिता का हिसाब मोटामोटी रूप में सही ही जान पड़ता है।

वैदिक साहित्य की विवेचना करते समय उसकी शाखाओं पर भी एक दृष्टि डालना आवश्यक है।[१३] वेद मंत्रों के व्याख्यारूप पाठांतर आर्यावर्त्त के अनेक गुरुकुलों में बड़े प्राचीन काल से प्रसिद्ध थे। उन्हीं पाठांतर आदि व्याख्याओं के कारण आगे चल कर वेदों की अनेक शाखाएँ बन गई थीं। महाभाष्य (पस्पशाह्निक) के अनुसार ऋग्वेद की २१; यजुर्वेद की १००; सामवेद की १०००; तथा अथर्ववेद की ९ शाखाएँ थीं। इस प्रकार कुल मिला कर १,१३० शाखाएँ किसी जमाने में थीं जिनमें अब अनेक लुप्त हो गई हैं। आजकल दस-बारह से अधिक शाखाएँ नहीं मिलतीं।

विषय की दृष्टि से समस्त वैदिक साहित्य में ऋग्वेद संहिता सबसे महत्वपूर्ण है। यही सबसे प्राचीन भी है। जिस रूप में अब हमें यह उपलब्ध है इसमें दस मंडल हैं। उसके सूक्तों की संख्या सब मिला कर १,०२८ है। जिन मंत्रों से वे सूक्त बने हैं उनके द्वारा ही हमारे देश का प्राचीनतम इतिहास, विशेषकर सांस्कृतिक इतिहास बटोरा गया है। उनकी ही ध्वनि से हजारों वर्ष पहले हमारे पूर्वजों का हृदय स्पंदित हुआ था और उनकी ही झंकार आज भी हमारा जीवन, हृदय तथा विचार स्पंदित किया करते हैं।

---

१३ बलदेव उपाध्याय का 'भारतीय दर्शन' तथा श्री भगवद्दत्त लिखित 'वैदिक वाङ्मय का इतिहास' विशेष अध्ययन के लिए उपयोगी है।

मंत्रों का झंकार

ज्ञान, धर्म, श्रुति, नीति अथवा ऐतिहासिक कहानी चाहे जिस दृष्टि से भी हम देखें वेदों का महत्व असीम है। पर इन सबसे अधिक उनके मंत्रों का झकार हमें मुग्ध करता है। ऋषियों ने हमारे इतिहास के प्रथम प्रभात मे यहाँ के तपोवनों को जिस मधुर-रव से परिपूर्ण किया था वही आज भी वेद मत्रो में अविकल रूप से सचित है। यज्ञों के अवसर पर उन पवित्र मंत्रों को विशुद्ध रूप में पाठ करते आने का विधान रहता आया है। उनकी विशुद्धता पर इतना अधिक जोर दिया जाता है कि एक मात्रा के आरोह-अवरोह में तनिक भी अंतर नहीं किया जा सकता।

मंत्रों के शुद्ध उच्चारण में यदि अंतर लाने की चेष्टा भी की जाए तो भी शायद ही उसमे सफलता मिल सकती है। सब मंत्रों की ध्वनि एक विशेष सगीत के लय से निर्धारित होती है। उस लय और ध्वनि से ही मंत्रों का भाव व्यक्त

होता है। एक मात्रा का भी यदि अशुद्ध उच्चारण कर दिया जाए अथवा एक अक्षर भी परिवर्तित हो जाए तो मंत्रों का सारा चमत्कार ही नष्ट हो जाता है। उस संगीत से अनभिज्ञ लोगों के कान में भी वह परिवर्तन बड़े बेढंगे रूप मे खटकने और कर्कश सुनाई देने लगता है। इसीलिए लिपिशास्त्र के हजारों वर्ष पहिले आविष्कार हो चुकने पर भी आजकल के जमाने मे वेद-मंत्रो को आचार्य के सामने बैठ शुद्ध रूप मे उनके पाठ करने और कंठस्थ रखने की प्रथा बनी ही रहती आ रही है। इस पाठ के समय ह्रस्व, दीर्घ तथा प्लुत के बहुत ही सूक्ष्म विभाग का ख़याल रखना पड़ता है। साथ ही श्वास का चलाचल भी उसी उच्चारण के ताल मे ले आना पड़ता है।

वेद मंत्रो से अधिक सुन्दर कविता वा उनके छंदों से अधिक सुन्दर चमत्कार की शायद कल्पना भी नहीं की जा सकती। मंत्रो मे, उनके भाव, शब्द और ध्वनि एक ही सुन्दर झंकार मे परिणत हो जाते हैं। हम उनके युद्ध सबधी वर्णन अथवा सीधे सरल शब्दो मे व्यक्त किए गए साधारण उद्गार का ही दृष्टांत लें, उनके झंकार हमें अवश्य ही चकित करते हैं।

असीम की ओर अग्रसर होने की दृढ़ आकांक्षा रखनेवाले मानव के अंतरतम मे चलनेवाले सघर्ष को

ऋग्वेद के मंत्र प्रकाश में लाकर स्पष्ट दिखलाते हैं—

परा हि मे विमना या वा पतन्ति वस्य इष्टय वयुना वास्तिरूपा ॥ (ऋ. १-२५, ४)

'और फिर भी मेरा थका मन सम्पत्ति के विचार की ओर उसी तरह दौड़ता है जैसे पक्षी अपने घोंसलों की ओर उड़ते हैं।'

शस्त्रों के वर्णन के लिए जो शब्द चुने गए हैं वे ही उन शस्त्रों को चमकते हुए रूप में आँखों के सामने ला खड़ा करते हैं। संग्राम में प्रेरित करने के लिए मंत्रों से अदम्य उत्साह की ध्वनि निकाली गई है। जहाँ युद्ध में बजनेवाली दुंदुभि वा धनुष की डोरी के टंकार का वर्णन है, वहाँ उन मंत्रों के झंकार से ही स्पष्ट रूप में दुंदुभि की आवाज़, धनुष की टंकार और उसके साथ-साथ वीरों का गर्जन निकलने लगता है।

संग्राम की प्रेरणा जाग्रत करने वाले मंत्र एक चित्र अंकित करते हैं—

तीक्ष्णीयांसः परशोरग्नेस्तीक्ष्णतरा उत ।

इन्द्रस्य वज्रातीक्ष्णीयांसो येषामस्मि पुरोहित ॥

(अ० ३-१९, ४)

'जिनका मैं पुरोहित—अग्रणी हूँ उनके शस्त्र परशु से

अधिक तीक्ष्ण, अग्नि से अधिक तेज, इन्द्र के वज्र से अधिक कठोर होवें।'

एषा महायुधा सं स्याम्येषां राष्ट्रं सुवीरं वर्धयामि।

एषां क्षत्रमजरमस्तु जिष्ण्वेषां चित्तं विश्वेऽवन्तु देवाः॥

(अ० ३-१९, ५)

'मैं इन वीरों के शस्त्रों को तीक्ष्ण करूँगा। इनका राष्ट्र उत्तम वीर पुरुषों से युक्त करके बढ़ाऊँगा। इनका क्षात्र तेज और शौर्य अक्षय होवे। इनका चित्त विजयी होवे। तथा सब देव इनका रक्षण करें।'

अपनी यह आकांक्षा और निश्चय घोषित कर देने के बाद मंत्र स्वयं आगे आकर आर्यों को शत्रुओं पर टूट पड़ने के लिए बाध्य करते हैं—

प्रेता जयता नर उग्रा वः सन्तु बाहवः।

तीक्ष्णेषवोऽबलधन्वनो हतोग्रायुधा अबलानुग्रबाहवः॥

(अ० ३-१९, ७)

'आगे बढ़िए! विजय प्राप्त कीजिए! हे नेता लोगों! आपके बाहु शूर बनें। जिनके बाण तीखे हैं वे निर्बल धनुष धारण करनेवालों का हनन कर सकते हैं। तथा बड़े-बड़े शस्त्र धारण करनेवाले शूरवीर निर्बलों को

पराजित करते हैं। इसलिए बलवान बन जाइए।'

मंत्र ही समर में दुंदुभिनाद करते हैं—

चित्तं हृदयं वैमनस्यं वदामित्रेषु दुंदुभे।

विद्वेषं कश्मशं भयममित्रेषु नि दध्मस्यवैनान्दुन्दुभे जहि॥

(अ० ५-२१, १)

'हे दुंदुभि! वैरियों में हृदय की व्याकुलता, मन की चिंता प्रेरित कर दे। फूट, द्वेष, विरोध और भय वैरियों में हम उत्पन्न करते हैं। हे दुंदुभि! शत्रुओं को पराजित कर दे।'

मंत्र ही गर्जन कर शत्रुओं को भगाते हैं—

ज्याघोषा दुंदुभयोऽभिक्रोशन्तु या दिशः।

सेनाः पराजिता यतीर मित्राणामनीकशः॥

(अ० ५-२१, ६)

'हमारे धनुष की डोरी के शब्द तथा दुंदुभि के शब्द सब दिशाओं में गर्जना करते रहें। शत्रुओं की पराजित सेना समूह समूह के साथ भागती रहे।

ऋग्वेद के मंत्र युद्ध के साधनों को दिखलाते हैं—

अहिरिव भोगैः पर्येति बाहुंज्याया हेतिं परिबाधमानः।

हस्तघ्नो विश्वा वयुनानि विद्वान् पुमान् पुमांसं परि पातु विश्वतः॥ (ऋ० ६-७५, १४)

'हाथ का रक्षण करने वाला गोधा चर्म का कवच धनुष की डोरी के आघात का निवारण करता हुआ बाहु को सांप के समान लपेटों से लपेटा जाता है। इस प्रकार के कवच से सुरक्षित और सब कर्मों को जाननेवाला पुरुषार्थी मनुष्य, पुरुषार्थी मनुष्यों का सब प्रकार से संरक्षण करे।'

स्थिरा वः सन्त्वायुधा पराणुदे वीलूउत प्रतिष्कभे।

युष्माकमस्तु तविषी पनीयसी मा मर्त्यस्यमायिनः।

(ऋ० १-३९, २)

'आपके शस्त्रास्त्र शत्रुओं को दूर भगाने के लिए सुदृढ़ रहें और शत्रुओं को प्रतिबंध करने के लिए बलवान रहें, तुम्हारी शक्ति प्रशंसनीय होवे। कपटी दुष्ट मनुष्य की शक्ति बढ़ कर न होवे।'

स्थिरा वः सन्तु नेमायो रथा अश्वास एषाम्।

सुसंस्कृता अभिशवः॥

'आपके रथ-चक्र की नाभियाँ दृढ़ होवें। रथ और घोड़े भी सुदृढ़ हों तथा लगाम भी उत्तम बने हुए हों।'

पर फिर भी वैदिक आर्यों का सबसे बड़ा संघर्ष असीम अज्ञात का ज्ञान प्राप्त करने की दिशा में ही चला है। प्रभात के समय आँखें खुलने पर उन्हें यह 'वास्तविक जगत' दिखाई पड़ता था पर इसकी जानकारी पर ही वे रुकते नहीं

थे। उन्हें जो असली धुन लगी थी वह इस वास्तविक के परे की वास्तविकता का ज्ञान प्राप्त करना ही था। इसीलिए उतने प्राचीन काल में ही ऋग्वेद ने गान किया है—

भूर्भुवः स्वः। तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि।

धियो यो नः प्रचोदयात्॥

(ऋ० ३-६२, १०)

'सर्वत्र प्रकाशमान सत् चित् आनन्द श्रेष्ठ देव का ध्यान करता हूँ, जो हमारी बुद्धि को प्रेरित करे।'

आर्यों की उन्नति का यही महामूल्यवान मूलमंत्र है। समूची आर्यजाति की जीवनधारा का कलरव वेदमत्र की इस झंकार मे ही सुनाई दे जाता है।

प्राकृतिक लीलाएँ

वेदो के वर्णन से ही पता चलता है कि प्राचीन आर्यों का जीवन एक विशेष] क्रम से ही उत्तरोत्तर उन्नति करता गया था। प्रगति के सिलसिले में प्रत्येक जाति के सामने उपस्थित होने वाले कठिन प्रश्न उनके सामने भी उपस्थित हुए थे। उन आर्यों को अनेक कठिनाइयो के बीच से अपना रास्ता निकालना पड़ा था। पर अपने सामने की कठिनाइयो से मोर्चा लेने तथा अनेक तरह के जीवन सबंधी जटिल प्रश्नो के हल करने के मामले मे उन्होने प्रत्येक बार ही अपनी मनुष्यता का परिचय दिया था।

वास्तव मे संघर्ष के बीच से ही प्रत्येक मनुष्य को अपने जीवन और विकास का रास्ता निकालना पड़ता है। प्राचीन काल मे यह सघर्ष और भी जटिल था। सर्वप्रथम प्रकृति ही आदमी के मनुष्यत्व की परीक्षा लेती थी। अपने जीवन की पहली दृष्टि खोलते ही आदमी को अपने सामने

ऊँचे ऊँचे पहाड़, घने जगल वा फुफकारती नदियाँ दिखाई पडती थीं। समुद्र किनारे जन्म लेने पर उसे समुद्र ही गरज गरज कर अपनी ओर आता दिखाई देता था। इनके सिवा, शीत, वृष्टि और झकोरे जन्म से ही आदमी का प्राण कँपाना शुरू कर देते थे। मनुष्य कहलाने की हैसियत रखने के लिए आदमी का इन सब परीक्षाओ में उत्तीर्ण होना लाजिमी रहता था।

बहुत सभव है, प्रकृति का वह प्रचड रूप देख कर शुरू शुरू मे आदमी डर गया था। अपने विरोधियों के सामने उसे अपनी निजी शक्ति कहीं क्षीण दिखाई पडी थी। अपनी रक्षा कर पाने के लिए शस्त्रों का निर्माण करना अथवा और किसी प्रकार की व्यवस्था कर पाने की कला से वह तब तक अनभिज्ञ था। अपने सहायक ढूँढ निकालने के लिए वह चारों ओर अपनी दृष्टि दौडाने लगा। यदि वह सहायता वास्तव मे न मिल सके तब भी अपनी रक्षा के लिए अपने भीतर एक विश्वास ले आना उसके लिए ज़रूरी था।

यह विश्वास उसे प्रकृति की लीलाओं ने दिलाया। उन लीलाओं से ही आदमी अपने को जन्म से घिरा देखता आया था। ये ही उसके प्रतिदिन के अनुभव के विषय थे। जीवन का प्रथम सुख उसने जिसके कारण अनुभव किया वह थी—आग। इसी ने उसकी कँपकँपी दूर की। फिर

अपनी गुफा के बाहर निकलने पर आदमी ने ऊपर देखा तो उसे आकाश का चँदोवा टँगा दीखा। यह भी उसे बाहर के आघातो से रक्षा करता सा प्रतीत हुआ। उसी आकाश मे सूर्य भी थे जो शरीर गरम रखे रहने के साथ साथ प्रकाश भी देते थे जिनके सहारे आदमी उस जटिल सघर्ष से निकलने के बहुत से रास्ते निकाल सकता था। उस प्रकाश से चकाचौंध होने लगने पर चन्द्रमा उसी आकाश मे आकर आँखें ठढी कर दिया करते थे। इसी प्रकार प्यास से कठ सूखने लगने पर जल ही ने आदमी को तृप्ति प्रदान की थी।

इस प्रकार, आग, आकाश, सूर्य, चन्द्र, जल आदि का माहात्म्य आदमियो को प्रत्यक्ष दीखता था। ये उन्हे सुख देने, रक्षा करने, प्रकृति के साथ के सघर्ष मे सहायक होने और मनुष्यो का कल्याण करने वाले थे। इसीलिए आदमी उनमे जीवित शक्ति देखने लगा। वे कहीं कल्याण करना बद न कर दें इस डर से, और यह ख़याल कर कि उनकी उपासना करने पर वे अधिक प्रसन्न हो अधिक सहायता करेंगे, आदमी उन्हे देवता मानने लगा।

वेदो में हमे सर्वप्रथम इन्हीं देवताओं का ज़िक्र मिलता है। ऋग्वेद के आरभ मे ही कहा गया है—'अग्नि की उपासना नूतन ऋषि भी करते हैं और पूर्व ऋषि भी करते थे।' यह सकेत हमे काफी पुराने काल की ओर ले जाता

है। अग्नि के संबंध में ऋषियों ने कहा है कि उसकी ही कृपा से दिन-प्रतिदिन प्राणी धन, अन्न, पुत्र, पौत्र तथा समृद्धि प्राप्त करता है।

वरुण का स्थान भी वैदिक देवताओं में बहुत महत्वपूर्ण है। वे सर्वत्र दृष्टि रखनेवाले, नियमों को धारण करनेवाले, शोभन.कर्मों का निष्पादन करनेवाले, सम्राट—सम्यक् रूप से प्रकाशित होनेवाले तथा शासन करनेवाले कहे गए हैं। सर्वज्ञ वरुण प्राणिमात्र के शुभाशुभ कर्मों के द्रष्टा तथा उन्हीं के अनुसार फलों के दाता बतलाए गए हैं। उन्हे ही सूर्य का स्रष्टा, अग्नि का पिता तथा हवा को उत्पन्न करनेवाला समझा गया है। चन्द्र और तारे उन्हीं की आज्ञा से चमकते हैं, नदियाँ उन्हीं की अनुमति से बहती हैं, उन्हीं की निर्धारित की गई सीमा में समुद्र लहराता है।

वरुण के साथ लगाए गए विशेषणों से ही पता चल जाता है कि अग्नि जैसे देवताओं के बाद उनकी उपासना शुरू हुई थी। इन दोनों देवताओं की उपासना में एक क्रम दिखाई देता है जिसके विश्लेषण के आधार पर ही मालूम पड़ता है कि बाद के शास्त्रकारों ने आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक क्रम निर्धारित किया था। पहले अग्नि, जल आदि के तरह के अनेक देवताओं की पूजा शुरू हुई जो आधिभौतिक क्रम में आता है। फिर इनसे बड़े आधिदैविक

देवता आए। वरुण जैसे देवता इसी विकसित श्रेणी मे आते हैं और इसीलिए उनकी उपासना मे उनके पहले प्रचलित अग्नि की उपासना का भी समावेश कर लेने की चेष्टा की गई है। ज्यों ज्यो समय बीतता गया वरुण को अप्रत्यक्ष और अदृष्ट शक्ति के रूप मे माना जाने लगा, उनका माहात्म्य भी उसी रूप में बढ़ता गया।

प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष, शारीरिक और मानसिक कारणों की एकता अनुभव करने की दिशा मे अग्रसर होते जाने के कारण जिन वरुण की उपासना शुरू हुई थी उनकी सत्ता स्वीकार करने के साथ साथ उनसे उपासको के डरने की भावना भी प्रबल हो गई थी। ऋग्वेद मे एक स्थान पर कहा गया है—'हे वरुण! मै दर्शनेच्छु होकर आपसे उस पाप की जिज्ञासा करता हूँ। मैं विविध प्रकार से पूछने विद्वानो के निकट जाता हूँ। वे कविगण मुझे एक ही उत्तर देते हैं कि हे जिज्ञासो! तेरे ऊपर वरुण का क्रोध है।'[१५] वरुण को प्रसन्न करने के लिए अति प्राचीन काल के वैदिक आर्य सिर्फ उनकी स्तुति ही नहीं करते थे बल्कि उसके लिए अनेक तरह के शारीरिक कष्ट सहन कर तपस्या भी किया करते थे।

वैदिक आर्य ज्यों ज्यो प्रकृति के साथ के सघर्ष मे

---

१५ ऋक०—८६, ३।

सफलता प्राप्त करते गए, उस संघर्ष के लिए आवश्यक विश्वास भी उनके भीतर दृढ़ होता गया। दूसरे शब्दों में— वे अपनी मनुष्यता की परीक्षा में उत्तीर्ण होते गए। इसका असर उनकी उपासना-पद्धति तथा अपने देवताओं के स्वरूप और उनके प्रति की भावना पर भी बहुत गहरा पड़ा। उनके हृदय में क्रमशः अपने आराध्य के प्रति श्रद्धा की भावना अंकुरित होने लगी। अब वे अपने देवताओं को भय के बदले प्रेम की दृष्टि से देखने लगे।

प्रकृति से भय करने के बदले उसके प्रति प्रेम और श्रद्धा का संचार हो जाना मानव संस्कृति के विकास में एक बहुत बड़ा डेग था। प्राकृतिक लीलाओं के प्रति प्रेम और श्रद्धा की भावना से ही अद्भुत सौन्दर्य सृष्टि करनेवाली कल्पनाओं तथा अति उच्चकोटि की काव्य-रचना के लिए आर्यों को प्रेरणाएँ मिली थीं। अपनी जिन विशेषताओं के लिए आर्य संस्कृति आगे चलकर प्रख्यात हुई उसका उषाकाल वैदिक आर्यों का भय से हट कर प्रेम की ओर अग्रसर होने का घुमाव ही था।

उषा

हमारे वैदिक पूर्वज अति प्राचीनकाल से ही दैनिक जीवन के सकुचित वातावरण से बाहर निकल आने और खूब ऊँची उड़ान लेने की कला जानते थे। उनके उस उड़ान में विभोर रहने की अवस्था में ही वैदिक काव्य की सुन्दरतम कमनीय कल्पनाओं की सृष्टि हुई है। उनके हृदय के भाव सौन्दर्य-सृष्टि कर उसमें ही विलीन से हो जाते हैं।

उन वैदिक आर्यों के कवि-हृदय के लिए सप्तसिंधव का प्रभात सबसे बड़ा आकर्षण था। उनके अधिकांश कृत्य चाहे वे वैयक्तिक हो वा राष्ट्रगत, विशेषकर प्रातःकाल से ही संबंध रखते थे। उनकी सबसे बड़ी सामूहिक उपासना जो यज्ञ के रूप में होती थी वह उषा-दर्शन के बाद ही आरंभ की जाती वा समाप्त होती थी। इसीलिए उनके जीवन में उषा का एक विशेष स्थान था। उसकी प्रशस्ति के मत्र ऋग्वेद संहिता भर में सबसे सुन्दर हैं।

ऋषियों के कल्पनानुसार सबसे सुन्दर सतत युवती देवी उषा ही है। इसलिए ऋग्वेद ने उसके दर्शन देने के समय गान किया है—

'ऊँची जगहों से पूर्व दिशा में उषा का केतु—उषा का पता देनेवाला तेज दीख पड़ता है। × × × यह शुभ्रवर्ण सुअलंकृता स्नान कर उठी स्त्री की भाँति अपने अंगों को दिखलाती आदित्य की लड़की उषा शत्रुरूपी अंधकार दूर करती तेज (प्रकाश) के साथ आती है।[१६] × × वह प्राणियों की नेत्री फलों की उत्पन्न करनेवाली आदित्य की दुहिता उषा अपनी बहिन—रात्रि के अंत में अंधकार दूर करती दीख पड़ती है। × × वर्षा की धारा की भाँति भद्र किरणें दीख पड़ती हैं। उषा ने यह तेज भर दिया है।'

उषा देवी के दर्शन में विलंब देख वे ही ऋषि अपनी भावुकता व्यक्त करते हुए कहते हैं—'हे उषा! देर न करो, नहीं तो जैसे राजा चोर या शत्रु को तपाता है, वैसे ही सूर्य तुम्हें अपने तेज से तपा देगा।'

और एक स्थान पर उन्होंने कहा है—'कब से उषाएँ प्रकाश करती आ रही हैं और कब तक प्रकाश करती

---

१६. उषा संबंधी ऋग्वेद के निम्नलिखित मंत्र दिए गए हैं। क्रमशः ५—८०,५; ४—५२,१; ४—५२,१; ४—५२,५, ५—७६,६; १—११३,१०; १—११३,१२; १—११३,९; ५—७६,६।

उषा

हमारे वैदिक पूर्वज अति प्राचीनकाल से ही दैनिक जीवन के सकुचित वातावरण से बाहर निकल आने और खूब ऊँची उड़ान लेने की कला जानते थे। उनके उस उड़ान में विभोर रहने की अवस्था मे ही वैदिक काव्य की सुन्दरतम कमनीय कल्पनाओं की सृष्टि हुई है। उनके हृदय के भाव सौन्दर्य-सृष्टि कर उसमे ही विलीन से हो जाते हैं।

उन वैदिक आर्यों के कवि-हृदय के लिए सप्तसिंधव का प्रभात सबसे बड़ा आकर्षण था। उनके अधिकांश कृत्य चाहे वे वैयक्तिक हो वा राष्ट्रगत, विशेषकर प्रातःकाल से ही सबध रखते थे। उनकी सबसे बड़ी सामूहिक उपासना जो यज्ञ के रूप मे होती थी वह उषा दर्शन के बाद ही आरभ की जाती वा समाप्त होती थी। इसीलिए उनके जीवन में उषा का एक विशेष स्थान था। उसकी प्रशस्ति के मत्र ऋग्वेद संहिता भर मे सबसे सुन्दर हैं।

ऋषियों के कल्पनानुसार सबसे सुन्दर सतत युवती देवी उषा ही है। इसलिए ऋग्वेद ने उसके दर्शन देने के समय गान किया है—

'ऊँची जगहों से पूर्व दिशा में उषा का केतु—उषा का पता देनेवाला तेज दीख पड़ता है। × × × यह शुभ्रवर्ण सुअलंकृता स्नान कर उठी स्त्री की भाँति अपने अंगों को दिखलाती आदित्य की लड़की उषा शत्रुरूपी अंधकार दूर करती तेज (प्रकाश) के साथ आती है।[११] × × वह प्राणियों की नेत्री फलों की उत्पन्न करनेवाली आदित्य की दुहिता उषा अपनी बहिन—रात्रि के अंत में अंधकार दूर करती दीख पड़ती है। × × वर्षा की धारा की भाँति भद्र किरणें दीख पड़ती हैं। उषा ने यह तेज भर दिया है।'

उषा देवी के दर्शन में विलंब देख वे ही ऋषि अपनी भावुकता व्यक्त करते हुए कहते हैं—'हे उषा! देर न करो, नहीं तो जैसे राजा चोर या शत्रु को तपाता है, वैसे ही सूर्य तुम्हें अपने तेज से तपा देगा।'

और एक स्थान पर उन्होने कहा है—'कब से उषाएँ प्रकाश करती आ रही हैं और कब तक प्रकाश करती

---

११. उषा संबंधी ऋग्वेद के निम्नलिखित मंत्र दिए गए हैं। क्रमशः ५—८०,५; ४—५२,१; ४—५२,१; ४—५२,५, ५—७६,८; १—११३,१०; १—११३,१२; १—११३,६, ५—७६,१।

जाएँगी ? पहिली वालियों की भाँति वर्तमान उषा भी काम कर रही है और प्रकाश करती हुई दूसरों के साथ—जो अभी नहीं निकली हैं, जा रही है। × × × × × प्राचीनकाल में उषा शाश्वत प्रकाश करती थी, आज भी धनवती उषा जगत को तमोवियुक्त करे, आनेवाले दिनों में भी अंधकार दूर करे। वह अजरा है, अमृता है, अपने तेजों के साथ विचरती है।'

ऋषि इस देवी को ही सब तरह के कार्यों की प्रेरिका मानते थे इसीलिए उसकी स्तुति में उन्होंने कहा है—'हे उषा! तुमने मनुष्यों को पृथक् पृथक् कामों के लिए जगाया है, कोई धनोपार्जन में लगता है, कोई खेती बाड़ी में, और कोई अग्निष्टोमादि यज्ञ में।'

उषा को ही वैदिक आर्य अपनी बहुतेरी अभिलाषाएँ पूर्ण करनेवाली देवी मानते थे, इसीलिए वे उससे मुक्तकंठ से वरदान भी मांगते हैं—'हे उषा देवी! तुम उन धनवान दानी यजमानों को जो हमें धन देते हैं पुत्र, अन्न, यश प्रदान करो।'

सप्तसिंधव का सुन्दर प्रभात वास्तव में ही वैदिक ऋषियों को ऐसा मुग्ध कर दिया करता था कि उसके अनेक ढंग से गुणगान वे बार बार किया करते थे। संसार के किसी भी देश के प्राचीन साहित्य में काव्य या कल्पना की दृष्टि से उषा से सुन्दर कीर्ति नहीं मिलती।

वेद के सूक्तों की उषा उस काल के आर्यों के मानसिक विकास पर काफी दूर तक प्रकाश डालती है। मनुष्य जब तक अपने को शारीरिक, अथवा यहाँ तक कहा जाए कि इहलौकिक सब तरह के सुखों से पूर्णतया तृप्त न अनुभव करने लगे तब तक उसकी कल्पना 'उषा' जैसी सौन्दर्य-सृष्टि करने में शायद ही सफल हो सकती है। आर्यों की यह कीर्ति उस काल की बहुत ही सुन्दर स्मृति है, जब उनके हृदय में अपने देवताओं के साथ साथ प्रकृति के प्रति प्रेम और श्रद्धा की भावनाओं का संचार होने लगा था। हम आर्य जीवन, उनकी उच्च सभ्यता और महान् संस्कृति के निर्माण की सूचक आशा और विश्वास की प्रेरणा और उसकी पूरी झलक वेद मंत्रों की उषा देवी के सुन्दर स्वरूप में झाँकी लगाती पाते हैं।

———

इन्द्र का पराक्रम

प्राकृतिक लीलाओ से संबध रखनेवाली बहुत सी शक्तियो को देवता मान लेने पर वैदिक ऋषियो के मन मे स्वभावतः ही प्रश्न उठने लगा—'कस्मै देवाय हविषा विधेम ?'—हम किस देव को आहुति अर्पित करें ?

जिन प्राकृतिक शक्तियो को उन्होंने महान् मान रखा था उनमे कोई भी उन्हे सर्वोपरि नही दिखाई पड़ी। आग बुझ जाती है, उषा थोड़ी देर दर्शन देकर विलीन हो जाती है, सूर्य के तेजस्वी होते हुए भी उन्हे अंधकार दबा लेता है। वरुण अर्थात् चन्द्र तारा जटित आकाश को भी मेघ ढक लेते हैं। बादल घिरे रहने पर जल में नावें भटकने लगती हैं तब जलस्थ वरुण भी उनकी रक्षा नही कर पाते। उन्हे अनावृष्टि अथवा अतिवृष्टि के समय भी स्वयं दबना पड़ता है। इससे पता चलता है कि इन सब शक्तियो मे कोई भी सर्वोपरि नही है। इनमे ऐसी कोई भी नहीं जो प्रकृति की

सब लीलाओं का नियंत्रण कर पाने में समर्थ होती दिखाई पड़े।

पर दूसरी ओर प्रकृति की लीलाएँ इस ढंग की हैं कि उन्हें देखकर यह मानना पड़ता है कि वे एक खास नियम से चलती हैं। समय पर बादल आते हैं, यथासमय वृष्टि होती है, अन्न उत्पन्न होता है और मनुष्यों के कल्याण के सब काम चलते रहते हैं। इस नियम के पीछे किसी एक विशेष शक्ति का नियंत्रण अवश्य है। उसी के कार्य प्राकृतिक लीलाओं से संबंध रखनेवाले अग्नि, सूर्य, वरुण आदि शक्तियों के रूप में अभिव्यक्त हुआ करते हैं। इस शक्ति विशेष का पृथक नामोद्देश करना उचित समझ ऋषियों ने इसे इन्द्र कह कर पुकारा।

ऋग्वेद ने इन्द्र को स्रष्टाओं का भी स्रष्टा कहा है। उन्हें प्रज्ञा देनेवाला तथा परम ज्योतिर्मय तत्त्व मान इस जगत को उनकी अभिव्यक्तिमात्र बतलाया है। उनकी विभूति अवर्णनीय स्वीकार की गई है। इसीलिए वेदों में जितनी स्तुति इन्द्र की है उतनी और किसी भी देव की नहीं, सब देवों की मिलकर भी नहीं। उन्हें सब देवो का गुण रखने वाले के साथ साथ, सब देवों से बड़ा, बलवान, मेधावी, कीर्तिमान, तेजस्वी देव मान सबसे अधिक उपास्य निर्धारित किया गया है। उनकी स्तुति में ऋग्वेद ने कहा है—'इन्द्र

आकाश और पृथ्वी के स्वामी हैं, वे जलो के, पर्वतो के, वृक्षों के, पूर्वजों वा अन्य देवो के तथा प्रज्ञावानो के ईश हैं। योग और क्षेम – जो अप्राप्त हैं उसकी प्राप्ति और जो प्राप्त हैं उसकी रक्षा के लिए इन्द्र ही (हव्य) पूज्य हैं।[१०]

पर साथ ही आर्यों के व्याख्यानुसार इन्द्र पुण्यात्मा नहीं बल्कि आर्यों के उपकार करने वाले शक्तिशाली देवता हैं। आगे चलकर जब आर्यों की आपस मे वा आर्येतर जातियों से लड़ाई चली उस काल में वे इन्द्र को अपना पक्ष ले विजय दिलाने वाला देवता मानते रहे।

इन्द्र की आकृति और स्वभाव भी आर्य बहुत कुछ अपने ही ढाँचे का, पर अपने से कही विशाल पैमाने का मानते थे। उनकी हड्डी बड़ी और अवयव भी बड़े होने की कल्पना की गई है। छाती चौड़ी है तथा बाल सुनहले हैं। वे हमेशा सोमपान कर मस्त रहते हैं। योद्धा भी वे बड़े पराक्रमी हैं। अपनी बहादुरी का वृत्तांत आप भी अकसर बखान किया करते हैं। उनके हाथ मे वज्र रहता है जिसके सामने कोई भी शत्रु टिक नही पाता।

इन्द्र के प्रथम पराक्रम का जिक्र करते हुए ऋग्वेद मे कहा गया है कि उन्होने अपने वज्र से वृत्र को मारा। वृत्र के मरने पर उसके द्वारा रक्षित जो उसकी पत्नियाँ—

---

१० ऋक १०—८६,१०।

जलधारें थीं उनका द्वार जिसे वृत्र ने बंद कर रखा था खुल गया और वे मुक्त हो गईं। इन्द्र ने गौवो को जीता, सोम को जीता और सप्तसिंधुओं के प्रवाह को मुक्त कर दिया।

यह वही वृत्र है जिसकी वृत्रासुर के नाम से पुराणों में बड़ी लंबी पर रोचक कथा दी गई है। ऋग्वेद में इसका ज़िक्र निम्नलिखित ढंग से बार बार आया है—'हे इन्द्र! तुमने बादलों को फाड़ डाला। तुमने जल के प्रवाह के द्वार खोल दिए। तुमने अवरुद्ध धाराओं को मुक्त कर दिया और दानव-वृत्र को मार कर जल गिराया। × × जल की धारा को अंधेरे ने रोक लिया था। वृत्र ने अपने पेट में बादल रख लिया था। इन्द्र ने उसे मार कर जल को पृथ्वी के नीचे से नीचे भागों पर गिरा दिया। × × × × जब जल आकाश से पृथ्वी पर नही गिरा और धनदा को अन्नादि से परिपूर्ण नहीं किया, तब इन्द्र ने अपना वज्र उठाया और ज्योति-रहित अंधकार—बादलों से गऊ को दुहा—जल गिराया।'

इन मंत्रों में जल का सप्तसिंधव देश के सातों नदियों मे प्रवाह रूप से गिरने और उस देश में गहरे जलपात का परिचित दृग्विपय वर्णन किया गया है। जैसे हमारे देश के बाद के कवि वर्षा के वर्णन में विभोर हो जाते हैं वैसे ही वैदिक ऋषि जलपात के वर्णन मे मुग्ध हो जाते हैं। वृत्र के

मारे जाने का अर्थ विद्वानों ने—अनावृष्टि के दैत्य का संहार, किया है। नदियों का जल और वृष्टि प्राचीन आर्यों की खेती-बारी तथा जीवन-निर्वाह के लिए सबसे प्राथमिक आवश्यकताएँ थीं, इसीलिए इसका इन्द्र के प्रथम पराक्रम में वर्णन किया गया है। वृष्टि के अधिष्ठातृ-देवता होने के कारण इन्द्र ही सब सम्पत्ति के मूल हुए, इसीलिए उनकी महिमा भी सबसे अधिक है।

इन्द्र के और पराक्रमों का भी जिक्र करते हुए ऋग्वेद में कहा गया है—'हे लोगो! इन्द्र वह है जिसने व्यथित—हिलती डोलती पृथ्वी को दृढ़ किया, जिसने कुपित—इतस्ततः चचल पर्वतों को शांत किया, जिसने विस्तृत अतरिक्ष को फैलाया, जिसने आकाश को स्थिर किया। × × उसने प्रत्यक्ष इधर उधर चलने वाले पर्वतों को अपने बल से दृढ़ किया, बादलों के जल को नीचे गिराया, विश्वधारिणी पृथ्वी को स्थिर किया और द्युलोक, आकाश का स्तभन किया।'[१८]

इन मन्त्रों द्वारा उस समय के भौगर्भिक उपद्रवों का सकेत मिलता है। भूगर्भशास्त्र के अनुसार भी उस काल में पृथ्वी पर महान परिवर्तन हो रहे थे। हिमालय भूगर्भ से ऊपर उठ रहा था। ज्वालामुखी विस्फोट होता था। भूकप बार बार होता था।

---

१८ ऋक २—१२,२, २—१७,५।

प्रकृति की इन संहारक लीलाओं के सामने अपने को जीवित रख पाने के लिए वैदिक आर्यों को अपने भीतर दृढ़ विश्वास लाना जरूरी था। इस विश्वास की खोज और दृढ़ स्थापना के सिलसिले में ही अपने प्रश्न—'कस्मै देवाय हविषा विधेम ?' का उत्तर ऋषियों के अन्तःदृष्टि की विकसित विचारशक्ति से मिला—'एकं सत् विप्रा बहुधा वदन्ति'—सद्वस्तु एक है, विद्वान उसे अनेक नामों से पुकारते हैं।

इन्द्र के पराक्रम की कल्पना में आर्यों के अपने पराक्रम तथा उनकी विचार-शक्ति के पहले की अपेक्षा और एक स्तर विकसित कर जाने के प्रमाण मिलते हैं। सप्तसिंधव के आर्यों में इस समय तक दिमागी सक्रियता की वैसी प्रेरणा भर आई थी जिससे वे एक ठिकाने पड़े रहने से विरत से हो गए। उच्च सभ्यता और संस्कृति की द्योतक उन प्रेरणाओं के ही बल उन आर्यों ने अपना सिद्धांत ही 'चरैवेति चरैवेति' बनाया, और नए नए प्रदेशों में फैलने के लिए अपने मूल केन्द्र से निकल पड़े।

देवासुर संग्राम

प्रकृति के साथ के संघर्ष में टिक पाने के लिए आदमी एक बार अपने भीतर जैसा विश्वास दृढ़ कर लेता है फिर उससे अलग हो पाना उसके लिए बहुत कठिन हो जाता है। उसके उसी विश्वास से उसका स्वभाव और संस्कार बनता है, वही उसकी प्रेरकशक्ति—धर्म बन जाता है। बहुत काल बीत जाने पर वही धर्म साधारण कोटि के मस्तिष्क वालों के लिए अंधविश्वास का रूप धारण कर लेता है।

अंधविश्वास से भी आदमी को ताकत मिलती है। पर इस ताकत की बुनियाद स्थायी नहीं रह पाती। मनुष्य का 'मनुष्यत्व' ही उस अंधविश्वास को अपनी शान के खिलाफ समझता है। वह असल में ही अपनी विचारशक्ति की प्रगति रुक गई सी देखता है। उसके मन में गहरा संघर्ष चलने लगता है। एक ओर यदि वह उन विश्वासों की सार्थकता स्वीकार करता है तो दूसरी ओर वही उसे अपने

विचारों की प्रगति के ख़याल से, गड्ढे की ओर ले जाने वाला प्रतीत होने लगती है।

प्राचीन आर्यों के जीवन में भी एक ऐसा समय आ गया था जब उनके बीच विश्वास संबंधी संघर्ष ने बड़ा जटिल रूप धारण कर लिया था। एक ही सत्य तत्व की खोज की दिशा में आगे बढ़ते बढ़ते वे इन्द्र को देवों में प्रथम गिनने लगे थे। ज्ञान की ओर अधिक अग्रसर हुए ऋषियों का यह मत सब आर्यों को मान्य नहीं हुआ। वे जिस दृढ़ विश्वास के साथ उतने दिनों से अग्नि जैसे देवताओं को मानते आ रहे थे, उनकी शक्ति में ही विश्वास रखे रहना अपने विश्वास के लिए वे पर्याप्त समझते थे। इसी कारण उनका इन्द्र के मानने वालों से झगड़ा उठ खड़ा हुआ। संभव है, आर्यों में आपसी विरोध उठ खड़ा होने के और भी दूसरे बहुत से कारण रहे होंगे जिनका इन्द्र की उपासना लेकर खड़ा हुआ झगड़ा प्रतीक बन गया था। इतना स्पष्ट है कि उपासना विधि के संबंध में आर्यों के बीच जो विरोध उठ खड़ा हुआ था उसमें कोई समझौता संभव नहीं था। यदि एक पक्ष को अपने देव-पूजक होने का अभिमान था तो दूसरा असुरोपासक होने का गर्व करता था। इन्द्र को मानने वाले देव पक्ष के और उन्हें न मानने वाले असुर पक्ष के थे। इन्द्र के पीछे धर्म समर्थक, वेद पर श्रद्धा रखने वाले थे; उनके विरोधी

'वृत्र' के साथ, धर्मविरोधी और वेदनिंदक थे । ज्यों ज्यों इन्द्र की उपासना बढ़ती गई त्यों त्यों आपस का विरोध भी संग्राम का रूप धारण करने लगा। ऋग्वेद में ऐसी पर्याप्त सामग्री है जिससे पता चलता है कि आर्यों के बीच आपस का यह संग्राम दीर्घ काल तक चलता रहा है। यही हमारे प्राचीन ग्रंथों में दिए गए 'देवासुर-संग्राम' का बीज है।

इस संग्राम के सिलसिले में ही ऋषियों ने ऋग्वेद में कहा है—'जो दुष्ट लोग मित्र, अर्यमा, मरुत, वरुण देवों को अपमानित करते हैं उन्हें हे इन्द्र, तुम तीखे वज्र से मारो। × × × मैं यज्ञ द्वारा पृथ्वी और आकाश को पवित्र करता हूँ। उन विस्तृत भूभागों को जला देता हूँ जो इन्द्र रहित हैं—जहाँ इन्द्र नहीं माने जाते। जहाँ जहाँ शत्रु एकत्र हुए वहाँ वहाँ हत हुए। वे नष्ट होकर श्मशान में पड़े हैं।'

अंत में देव पक्ष की जीत हुई। इस जीत की घोषणा सूचक ध्वनि ऋग्वेद के एक मंत्र से निकलती है—'हे इन्द्र, मैं सब मनुष्यों में एक तुम्हारा ही यश सुनता हूँ। लोगों के पति—रक्षक तुम ही सुने जाते हो।' १६

जिस प्रकार भारतीय आर्यों के इतिहास पर वेद प्रकाश

---

१६. क्रम से ऋक १०—८६, ६, १—१३३, १, ५—३४, ११।

डालते हैं उसी प्रकार अवेस्ता पारसियों के इतिहास पर डालते हैं। उसमें एक स्थान पर जरथुश्त्र विलाप करते हैं—'मैं किस देश को जाऊँ? कहाँ शरण लूँ? कौन-सा देश मुझे और मेरे साथियों को शरण दे रहा है। न तो कोई सेवक मेरा सम्मान करता है न देश के दुष्ट शासक। मैं जानता हूँ कि मैं निःसहाय हूँ। मेरी ओर देख, मेरे साथ बहुत थोड़े मनुष्य हैं। हे अहुरमज़्द—असुर महान, मैं तुझ से विनीत प्रार्थना करता हूँ। हे जीवित ईश्वर ...।'[२०]

यह उसी समय का विलाप है जिस समय पराजित असुरोपासक आर्य सप्तसिंधव परित्याग कर उत्पीड़ित हो अन्यत्र आश्रय ढूँढ़ रहे थे। ज़रथुश्त्र के अनुयायी संख्या में थोड़े थे। और किसी ओर मार्ग न रहने के कारण उन्होंने उत्तर-पश्चिम दिशा ली। वे बहुत काल तक बहुत से देशों में भटकते रहे।

अवेस्ता के इस वर्णन के आधार पर विद्वानों का अंदाज़ है कि असुरोपासक आर्यों की टोलियों के भटकते रहने का काल आज से लगभग दस हज़ार वर्ष पहले रहा होगा। वे कई जगहों में भटकते भटकते हज़ार बारह सौ

२० उस्तन्वैति गाथा। 'आर्यों का आदि देश' से उद्धृत। आर्यों के प्रसार सबंधी कई अध्यायों का आधार संपूर्णानंदजी का यही ग्रंथ रहा है।

वर्ष की लंबी यात्रा समाप्त कर स्थायी रूप से उस देश में जा बसे जो आज भी ईरान—आर्यों का देश कहलाता है। अवेस्ता आदि ग्रथो के जाननेवाले वर्तमान ईरानी-पारसी उन्ही सप्तसिंधव से गए असुरोपासक आर्यों की संतान में से हैं।

पणियों की समुद्र-यात्रा

इन्द्र की उपासना न स्वीकार करने वालों में, ईरान की ओर चले जाने वाले आर्यों के बाद पणियों का वेदों में बहुत जगह उल्लेख मिलता है। इनका भी देवोपासक आर्यों के साथ दीर्घकाल तक संघर्ष चला है। इस संघर्ष के सिलसिले में इन इन्द्र विरोधी लोगों की बहुत सी टोलियों को सप्तसिंधव छोड़कर आर्यावर्त्त के दूर दूर के प्रदेशों में तथा बहुतेरे समुद्र पार के देशों में आश्रय लेना पड़ा था।

वेदों के अनुसार पणियों की प्रसिद्धि यह थी कि ये लोग धन कमाने के लिए कोई भी साधन बाकी नहीं छोड़ते थे। इनके पेशों में व्यापार करने के सिवा, पशु चुराना, डाका मारना तथा निर्दयतापूर्वक हर प्रकार से धन संग्रह करना था। वैदिक ऋषि इनके विनाश की ही कामना रखते थे। उषा से उन्होंने प्रार्थना की है—'देवों का तर्पण न करने वाले तथा दान न देनेवाले पणियों को चिरकाल तक सोया

ही रहने दे।' पणि को उन्होंने अत्रि और वृक-भक्षक के साथ साथ भेड़िया कहा है और सोम से प्रार्थना की है कि वे उसका नाश करें।[२१]

वैदिक आर्यों के इन पणियों से संग्राम होने के भी संकेत मिलते हैं। ऋग्वेद में ही कहा है—'हे इन्द्र! कुत्स से लड़ाई में डर कर सौ बल के साथ—बड़ी सेना के साथ पणि लोग भाग गए।'[२२]

ये पणि आर्य या किसी आर्येतर जाति के थे इस प्रश्न पर अब भी विवाद चलता है। इनकी वेष-भूषा वा भाषा का पृथक् वर्णन न मिलने और इन्हें म्लेच्छादि नाम से न पुकारे जाने के कारण अनेक विद्वान इनके आर्य होने की ही अधिक संभावना बतलाते हैं। पर ये इन्द्र की उपासना न कर बल की उपासना किया करते थे। इनकी गणना देवोपासकों में नहीं बल्कि असुर पूजकों में की जाती थी।

इतना निश्चित है कि पणि आर्य बस्तियों में बराबर घूमते, व्यापार करते और सूद पर धन देते चलते थे। विद्वानों का अनुमान है कि सप्तसिंधव के पूर्वी छोर पर, ऋग्वेद काल के पूर्वी समुद्र के किनारे—जहाँ आज संयुक्त प्रांत है, कहीं पर पणियों की बस्तियाँ रही होंगी। आगे

---

२१ ऋक् १—२४, १० तथा ६—५१, १४।

२२ ऋ० ६—२०, ४।

चलकर उनका प्रसार राजपूताना समुद्र के दक्षिणी और पश्चिमी तट पर हुआ था। यहीं उन्हें उस अंचल में पहले से बसे द्रविड़ मिले थे। द्रविड़ों के संसर्ग में आने पर पणियों की संस्कृति और उनके वंश में भी संकरता आ गई, पर अधिक उन्नत रहने के कारण पणियों ने न तो अपना नाम छोड़ा और न अपनी उपासना पद्धति।

समुद्र किनारे बसे रहने से उन्हें सप्तसिंधव का व्यापारी माल दक्षिण लाने और उस तरफ का माल उत्तर ले जाने में सुगमता होती होगी। बीच के समुद्र सूख जाने पर पणियों का सप्तसिंधव से संबंध विच्छिन्न हो गया। उस परिस्थिति में, जैसी आर्य सभ्यता वे अपने साथ लाए थे वह तो रह गई पर मूल स्रोत से अलग पड़ जाने से उनके विकास की धारा स्वतंत्र हो गई। राजपूताना समुद्र सूख जाने पर उन्होंने अपने उपनिवेश ईरान के दक्षिणी और अरब के पूर्वी भाग में अरबसागर के तट पर बसाए। वहीं से फिर उनका और आगे प्रसार हुआ।

कई भारतीय विद्वानों का मत है कि पणि ही उन फिनिक वा फिनिशियनों के पूर्वज थे जिन्होंने मिश्र और यूरोप को बहुत-सी बातों में सभ्यता का पाठ पढ़ाया था। वैदिक आर्य पणियों की जिन आदतों से तंग आ जाते थे उनका ही उल्लेख फिनिशियन लोगों के मामले में भी पाया जाता है।

व्यापार के सिवा पशु चुराना और डाका डालना उनके भी पेशे थे। पश्चिमी एशिया, उत्तरी अफ्रिका तथा दक्षिणी यूरोप के लोग उनसे घबराते थे।

पर सैकड़ों दोषों के रहते हुए भी प्युनिकों ने (फिनिशियन का सही रूप) सभ्यता के विकास में बड़ी सहायता दी है। यूरोपीय विद्वान मानते हैं कि प्युनिक पहले ईरान में, फिर शाम में और तब उत्तरी अफ्रिका में जा बसे थे। वे जहाँ रहे समुद्र किनारे ही रहे। बहुत दूर दूर तक की समुद्र यात्रा कर वे अपने साहस का परिचय दिया करते थे। भूमध्य सागर तट के निवासियों ने उनसे ही व्यापार करना, जहाज चलाना, गणित, ज्योतिष और लेखन कला का ज्ञान प्राप्त किया था। उनकी आखिरी बस्ती कार्थेज थी जिसे रोम ने कई 'प्युनिक युद्ध' के बाद नष्ट कर दिया।

पणि वा पणिक प्युनिक वा फिनिक से बिलकुल मिलता नाम है। दोनों के स्वभाव में भी बहुत अधिक समानता है। दोनों ही सभ्य थे। बल आदि असुरों की उपासना दोनों ही किया करते थे। जनस्मृति के आधार पर प्युनिक अपना इतिहास दस हज़ार वर्ष पुराना बताते थे। इसमें अतिशयोक्ति हो सकती है पर यदि उनका आदि स्थान कहीं सप्तसिंधव में था तो इराक़ और शाम पहुँचने में लंबा समय लग जाना स्वाभाविक ही था।

भारतवर्ष में रह गए पणिकों का क्या हुआ इस संबध में कोई स्पष्ट ऐतिहासिक प्रमाण उपलब्ध नही है। पर अनुमान किया जाता है कि वैदिक आर्यों के साथ के लबे संघर्ष में उन्होंने हार मान ली। उन्होने आसुरी उपासना त्याग कर वैदिक अपना ली। उनके ही वंशज आज हमारे बीच वैश्य, बनियों, वणिकों और बोहरों के रूप मे विद्यमान हैं।

जिन पणियों ने हार न स्वीकार की वे ही पश्चिम की ओर समुद्र के किनारे किनारे बढ़ते गए। उनकी ही टोलियाँ वैदिक संस्कृति की वाहक बनी। उनके जरिए ही भारत के बाहर के देशों में वैदिक सभ्यता का प्रसार हुआ। संस्कृति की काफी विकसित सीमा पर पहुँचे वैदिक आर्य जिन लोगो के व्यवहार से तंग आकर उनका विनाश चाहते और उन्हे सप्तसिंधव छोड़ देने के लिए बाध्य करते थे उन तिरस्कृत पणियो द्वारा भी हमारे देश की कम ख्याति नही हुई है। उन लोगो के द्वारा ही हमारे देश का बाह्य जगत से सर्वप्रथम संघर्ष हुआ था। उन लोगो के जरिए ही बहुत दूर दूर के निवासियों के जीवन तथा उनकी सभ्यता पर भारत का प्रभाव पड़ा था।

दस्युओं द्वारा संस्कृति-विस्तार

आर्यों की सभ्यता और संस्कृति की ऊँची सीढियों पर अग्रसर होते जाने की रफ्तार बडी तेज थी। समाज के सब स्तरो का उस समान रूप और क्रम से ही प्रगति करते जाना सभव नहीं था। यही कारण था जिससे निम्न श्रेणी के कुछ लोग वैदिक आर्यों की प्रगति के जमाने में ही पिछडी हुई वा अर्ध सभ्य अवस्था में रह गए थे। ये प्रगतिशील आर्यों की भाँति नगर तथा गावो में निवास कर खेती बारी, शिल्प वा व्यापार से जीविकोपार्जन न कर जगल तथा पहाडों में फिरते थे और शिकार तथा लूट मार से पेट भरते थे। इस भाँति फिरते रहने के कारण उनका रग भी सावला पड गया होगा। उन्हें विकसित श्रेणी के आर्य नीची दृष्टि से देखते थे। ऋषियो ने उनका नाम दस्यु वा दास दिया है। वेदों में उन्हें काले रग का कहा गया है। वैदिक आर्यों से इनकी भी बराबर लडाई रहती थी।

पाश्चात्य विद्वानों का मत दूसरा है। उनकी धारणा है कि दस्यु भारत के वे आदिम निवासी थे जिनसे आक्रमणकारी आर्यों का मुकाबला हुआ था। पर और प्रमाणों से यही सिद्ध होता है कि जिस अर्थ में आक्रमणकारी का व्यवहार होता है आर्य थे ही नहीं। यह संभव है कि आर्य जब सप्तसिंधव में रहते थे तब उसके कुछ भागों में दस्यु भी बसते हों।

दस्यु और आर्यों की भाँति यज्ञयागादि नहीं करते थे। वे उन्नत आर्यों से अलग भी रहते थे। इसीलिए ऋग्वेद के मंत्र में उनके संबंध में कहा गया है—'दस्यु अकर्मा, हमारा अपमान करनेवाला, अन्यव्रत, अमानुष है। हे शत्रुहन्ता इन्द्र, तुम उसका वध करनेवाले हो; दास का भेद न करो।'[२३]

वैदिक परिपाटी के विरुद्ध आचरण करनेवाले वा संस्कार-च्युत गुनाहगारों को भी दास की श्रेणी में डाल दिया जाता था। दस्यु और दास एक ही अर्थ के द्योतक हैं। जिन्हें ये नाम दिए जाते थे वे असल में वैदिक आचरण के विरुद्ध जानेवाले लोग थे। ऐसे विरोधियों को वैदिक समाज से अलग कर दिया जाता था। इसी आधार का संकेत ऋग्वेद के एक मंत्र में दिया गया है—'हे इन्द्र, जो लोग

---

२३. ऋ० १०—२२, ८।

हमसे अलग हो गए और ब्रह्म, अर्थात वैदिक कर्म से दूर गए वे तुम्हारे नहीं हैं।' [२४]

इन संस्कार-च्युत लोगों को पवित्र कर फिर से वैदिक समाज में लेने का भी वर्णन वेदों में आता है। इसका तात्पर्य यह निकलता है कि वैदिक आचरण स्वीकार कर लेने पर दास भी आर्य की श्रेणी में आ जाते थे।

ऐसा जान पड़ता है कि आर्यों के साधारण दल के भी आचरण और उपासना संबंधी विकास का और बहुत आगे बढ़ जाने पर उनका जो दल पीछे पड़ गया था उसमें भी तायदाद के ख़याल से काफ़ी आदमी थे। अपनी संख्या की ताकत पर भरोसा कर यह दल भी अपने आचरण पर, चाहे वह वैदिक रीति का विरोधी ही क्यों न हो, डटा रहा। परिणाम स्वरूप उनका वैदिक आर्यों से संग्राम छिड़ गया। इस संग्राम का वर्णन ऋग्वेद में किया गया है—'हे अग्नि! तुम्हारे डर से काले रंगवाले अपने भोजन छोड़ भाग गए। × × × हे अग्नि! तुमने आर्य के लिए अधिक तेज उत्पन्न कर दस्युओं को उनके स्थान से निकाल दिया। × × × हे इन्द्र! तुमने पचास हजार कालों को मारा।' [२५]

---

२४ ऋ० ५—३३ ३।

२५. ऋ० ७—५, ३ ७—५ ६ ९—१०१ ९

यह संग्राम काफी अरसे तक चला, पर जिन अर्ध-सभ्य आर्यों को दास वा दस्यु कहा जाता था उनका विनाश नहीं किया जा सका। उन्होंने अपने बचाव के लिए बहुत तरह के प्रयास किए और तरह तरह के वैसे तरीके अपनाए जिससे वे कुचले नही जा सके। दस्युओ के साथ सग्राम छिड़ने के कई हजार वर्ष बाद महाभारत काल में भी दस्युओ के प्रति आर्यों की कैसी नीति थी इसका पता शातिपर्व के एक वर्णन से चलता है।[२९] उस समय तक दस्युओ ने आर्यों की वश्यता नही मानी थी, फिर भी उनके प्रति आर्यों की ममता का अभाव नही था। युधिष्ठिर को उपदेश देते हुए भीष्म ने कहा है कि दस्यु सहज ही बहुत सैन्य संग्रह कर काम काज के योग्य हो सकते हैं इसलिए उनके साथ जन चित्त-प्रसादिनी मर्यादा स्थापित करनी चाहिए। उनके साथ विरोध उपस्थित हो तो नृशस व्यवहार नही करना चाहिए। जो लोग दस्युओं का धन जन विनाश नहीं करते वे ही सुखपूर्वक राज्य भोगते हैं और जो विनाश करते हैं उनके लिए निरुपद्रव होकर राज्य करना असंभव है।

विद्वानों का अनुमान है कि दस्युओ में कुछ धीरे धीरे गांव तथा नगरो में बस गए और आगे चलकर वैदिक समाज के स्थायी अंग बन गए। शायद उन्हीं

२९. शांति पर्व १३३—२०।

लोगो की पीछे शूद्रो मे गिनती की जाने लगी।

दस्युओं के कुछ दल सप्तसिंधव छोड़कर वाहर चले जाने के लिए वाध्य हुए। पर जिन आर्यों ने उन्हे घर छोड़ने के लिए वाध्य किया उनकी भाषा और रहन-सहन की बहुत सी वातो का प्रसार करने में वे दस्यु ही माध्यम वने। उनके कुछ दल राजपूताना समुद्र सूख जाने पर दक्षिण गए और वहाँ के द्रविड़ों से जा मिले। दूसरे दल पश्चिम-उत्तर की ओर निकल पड़े।

ऐतरेय ब्राह्मण मे दिखलाया गया है कि विश्वामित्र ने अपने पचास लड़कों की संतति को यह शाप दे दिया था कि वे आर्य वस्तियों की सीमाओ पर रहे। विश्वामित्र की उस संतति से ही दस्युओ का एक वड़ा भाग वना था। कहा जाता है कि वे ही दक्षिण के आंध्र, पुंड्र, शवर, पुलिंद और मुतिम हुए।

जो लोग उत्तर-पश्चिम दिशा मे निकले थे वे वरावर पश्चिम की ओर वढ़ते गए। अनुकूल परिस्थिति जव तक उन्हे नही मिली वे आगे ही वढ़ते गए। ज्यो ज्यों नए दल आते गए पहिले पहुँचे हुये दल पश्चिम की ओर हटते गए। जो दल सवसे पीछे पहुँचा वह यूनान आदि पूर्वी यूरोपीय देशो मे जा वसा। वहाँ से उनके वशज और भी पश्चिम जा यूरोप के और देशो में जा पहुँचे। यूरोप मे उन दिनो जो

आर्येतर जातियाँ बसती थीं उनसे सप्तसिंधव से चले दस्यु कहलानेवाले आर्य जाति के लोगों का मेल हुआ। कई विद्वान् उस मेल से ही आज के यूरोपियनों का जन्म बतलाते हैं। सप्तसिंधव से यूरोप पहुँचे आर्य स्वयं ही अर्ध-सभ्य थे पर फिर भी तत्कालीन यूरोपियनों की अपेक्षा उनकी संस्कृति ऊँची थी। इसीलिए इन आर्यों की बोलियाँ तथा संस्कृति संबंधी और लक्षण ही वहाँ प्रधान बन गए।

विद्वानों का यह अनुमान यदि ठीक है तो यूरोप के देशों पर वैदिक सभ्यता की छाप डालने का श्रेय हमारे देश में घृणा की दृष्टि से देखे जानेवाले दस्युओं के पूर्वजों को ही देना पड़ेगा।

व्रात्यों की महिमा

आर्य संस्कृति के विकास के सिलसिले में हम यह स्पष्ट देखते हैं कि जो लोग वैदिक आचार नहीं मानते थे उनसे, चाहे वे आर्य ही हों, समुन्नत आर्यों की लड़ाई छिड़ जाती थी। इससे यह निष्कर्ष भी निकाला जा सकता है कि प्राचीन आर्य कुछ खास रूढ़ियों में विश्वास करते थे और उन पर ठीक उनकी ही तरह न चलनेवाले सब लोगों को वे अपना शत्रु मानते थे। अपने निजी विश्वास पर वे अंध होकर विश्वास करते और सब किसी से वही मनवाते चलने के लिए तुले रहते थे।

पर आर्य संस्कृति के प्रसार का इतिहास देखने पर हम कुछ और ही नतीजों पर पहुँचते हैं। क्रस्तान वा मुसलमान धर्म के प्रचार में हम शस्त्रों से ली गई सहायता ही मुख्य पाते हैं, उन धर्मों के इतिहास का प्रसार खूनखराबी से भरा है। पर वैदिक धर्म के प्रसार में उस खूनखराबी वा शस्त्रों

पर मुख्य भरोसा रखने का वृत्तांत नहीं मिलता। इस वृत्तांत में उल्टे हमें आर्यों द्वारा विपक्षियो के विश्वास की इज्जत किए जाने के प्रमाण मिलते हैं। वे अकाट्य प्रमाण हमें आर्य सस्कृति की विश्वास संबंधी उदारता का मूलस्रोत ढूंढ़ने के लिए बाध्य करते हैं।

इस स्रोत का पता हमें वेद ही व्रात्यो के वर्णन के सिलसिले में बतला देते हैं। कुछ लोग व्रात्यो को व्रतहीन अनार्य मानते हैं। पर इस संबध मे खोज करनेवाले कई निष्पक्ष विद्वानों का मत है कि व्रतहीन आर्य ही व्रात्य थे। वे प्रचलित यज्ञयाग प्रधान वैदिक धर्म नहीं मानते थे। आर्य आचार की आवश्यकता भी वे स्वीकार नही करते थे। वे एक प्रकार के साधु या सन्यासी होते थे जो एक विशेष ढंग की वेष-भूषा धारण किए घूमा करते थे। उनके उपास्य रुद्र थे। उनकी उपासना-विधि योगाभ्यास मूलक थी तथा उसके साथ उनका अपना पृथक ज्ञानकांड भी था। आगे चलकर शायद व्रात्य सम्प्रदाय से ही साधु-सन्यासियो की परिपाटी शुरू हुई।

व्रात्य आर्य आचार की आवश्यकता तो मानते ही नहीं थे, साथ ही उनका किसी प्रकार के यज्ञ द्वारा संस्कार भी नहीं होता था। पर फिर भी वेदों ने उनकी स्तुति की है और उनकी महिमा बतलाई है। अथर्ववेद में व्रात्य सिर्फ ब्राह्मणादि

से ही नहीं वल्कि सब देवों से ऊँचा और पूज्य कहा गया है। उनसे ही सारे जगत की सृष्टि बतलाई गई है। स्थान स्थान पर कहा गया है—'जो ऐसा जानता है वह कीर्ति और यश प्राप्त करता है। नमो व्रात्याय।'[२७]

इससे स्पष्ट होता है कि व्रात्य सभ्य आर्यों के सिर्फ सन्निकट ही नहीं थे वल्कि उनके जीवन और दृष्टिकोण को भी काफी दूर तक प्रभावित करते थे। यदि और कुछ नहीं, तो कम से कम व्रात्यों की विद्वत्ता और ज्ञान की वैदिक ऋषि किसी भी हालत मे उपेक्षा कर पाने मे समर्थ नहीं हुए थे। इन व्रात्यो के दृष्टिकोण ने ही वैदिक आर्यों को अपने यज्ञयागादि व्यवहारों पर निष्पक्ष हो विचार करने के लिए बाध्य किया होगा। इसी से उनमें दूसरों के मत और विचार को जाँचने और उसके प्रति सहनशीलता तथा सहानुभूति रखने के भाव का सूत्रपात होना सभव दीखता है।

आर्येतर जातियो के सपर्क में आने पर, आर्यों का दूसरी सभ्य जातियों के मनोविचारों को निष्पक्ष हो जाँच कर पाना और उनके प्रति सहनशीलता की प्रवृत्ति रखना बड़ा ही उपयोगी साबित हुआ है। ये ही भाव आर्यों के

---

२७ अथर्ववेद का पंद्रहवां कांड।

सप्तसिंधव के बाहर प्रसार के समय उनकी विशेषताएँ रही हैं। जिन कारणों से आर्य सभ्यता और संस्कृति सर्वोच्चकोटि की बन पाई है उनमें दूसरों के दृष्टिकोण को भी समादर की दृष्टि से देखना भी बहुत प्रधान रहा है। ऐसी प्रवृत्ति और दृष्टिकोण के कारण ही संसार की नाना जातियों को आर्य अपनी जमात में मिला लेने में समर्थ हुए तथा अमिट रूप से अपनी सभ्यता और सस्कृति की छाप संसार की नाना सभ्यताओं और सस्कृतियो पर डाल पाने में समर्थ हुए हैं।

आर्य विचारधारा के दृष्टिकोण को सकुचित न रहने दे विशाल बना देने का यह श्रेय वास्तव में व्रात्यों को ही है।

अगस्त्य की दक्षिण-यात्रा

सभ्यता के विकास में देशाटन करने वाले पर्यटकों का बहुत महत्वपूर्ण स्थान रहता आया है। आरभ मे प्रकृति के रहस्यों का उद्घाटन करने की प्रवृत्ति ही उनकी मुख्य प्रेरक शक्ति रहती है। नए-नए देशों मे उन्हें प्रकृति का नया नया स्वरूप दिखाई देता है। उस स्वरूप का आकर्षण बहुत प्रबल होता है। पर्यटक मतवाला हो उसके पीछे-पीछे घूमता है। अपने भ्रमण के इसी सिलसिले मे वह अज्ञात देशों का पता लगा लेता है। उसके बनाए रास्ते फिर आम रास्ते हो जाते हैं। एक देश के आदमी अपने से भिन्न प्रकृति के आदमियों के सपर्क मे आते हैं। उन दोनों के बीच आदान-प्रदान जारी हो जाता है। गहरे सपर्क मे आनेवाले विभिन्न प्रकृतिवालों की विचार-धाराओं को उस ढग की नई-नई प्रेरणाएँ मिलती हैं जिनसे उन दोनो देशवासियो की जीवनधारा मे बहुत बड़ा पल्टा आ जाता है। यहाँ से ही सभ्यता के विकास के नए-नए

स्रोत फूट निकलते हैं और मानव सभ्यता को बड़ी रफ्तार से प्रगति की ओर अग्रसर होने की ताकत मिलने लगती है।

हमारे प्राचीन ऋषियों में भी पर्यटन की प्रेरणा बहुत प्रबल थी। ऐसे पर्यटकों में हमें सर्वप्रथम अगस्त्य ऋषि मिलते हैं। ऋग्वेद के अनेक मंत्रों के वे द्रष्टा थे। इससे हमें उनके महाज्ञानी होने का परिचय मिलता है। पर साथ-ही-साथ वे महान पर्यटक भी थे। वे ही सबसे पहले वैदिक ऋषि थे जिन्होंने ऋग्वेद काल का दक्षिणी समुद्र -- आजकल जहाँ राजपूताना है, पार किया और विंध्य पर्वत लांघ कर उस समय तक अज्ञात दक्षिण भारत के कई प्रदेशों से होते हुए दखिन-पश्चिम समुद्रतट पर वर्तमान-केरल तक जा पहुँचे थे।

आर्य संस्कृति को सर्वप्रथम और विशुद्धरूप में दखिन-भारत ले जानेवाले अगस्त्य ऋषि ही थे। उनका ज्ञान, अध्यवसाय और साहस ही वह बीज था जिसके कारण आगे चल कर सारा दक्षिण-भारत आर्य संस्कृति के आँचल में आ गया। वे ही तामिल प्रदेश वासियों के साहित्य और विज्ञान के प्रथम आचार्य थे। वहाँ वालों की भाषा को सुसंस्कृत बनाने में भी उनका बहुत बड़ा हाथ रहा है।

अगस्त्य की यह कीर्ति हमारे देश का इतिहास निर्धारित

करनेवाली रही है। इसे चिरस्मरणीय बनाए रखने के लिए अपने यहाँ की पौराणिक गाथाओं में इस कीर्ति को अतिशयोक्ति के रूपक में अलंकृत कर रखा गया है। उसमें इनके समुद्र सोख जाने और विंध्य को साष्टांग दंडवत की मुद्रा में झुका वैसे ही उसे छोड़ दक्खिन चले जाने का ज़िक्र किया गया है। रामायण में भी विंध्य पर्वत के दक्षिण, कुञ्ज पर्वत पर के उनके आश्रम का वर्णन मिलता है। संभव है, प्रथम अगस्त्य ऋषि की वंश या शिष्य परंपरा चली आती होगी और वे ही रामचन्द्र को दक्षिण में मिले होंगे।

पाश्चात्य विचारधारा के विद्वान् इन वर्णनों को कोई महत्व नहीं देते। पहले तो वे यहाँ तक मानने को तैयार नहीं थे कि वैदिक आर्यों को समुद्र का प्रत्यक्ष ज्ञान था। पर वेदों में दिए गए वर्णन से स्पष्ट हो जाता है कि उन आर्यों को सिर्फ़ समुद्र का परिचय ही नहीं था बल्कि वे बड़ी-बड़ी नावों द्वारा समुद्र यात्रा भी किया करते थे। ऋग्वेद के मंत्र हैं—'जैसे समुद्र से संगति की याचना करनेवाली सिन्धुएँ उसे जल से भरती हैं, वैसे ही अध्वर्यु आदि यज्ञ करनेवाले इन्द्र को सोम से तुष्ट करते हैं। × × यह महाप्रज्ञ देव वरुण की महती माया है कि इतनी वेगवती नदियाँ मिलकर भी समुद्र को जल से नहीं भर सकतीं।'

वशिष्ठ ऋषि ने एक मंत्र में कहा है—'जब वरुण के

प्रसन्न होने पर मैं उनके साथ नाव में समुद्र के मध्य में गया तो वहाँ और भी नावें चल रही थी, उनके साथ हम चले और समुद्र की लहरों में हमें झूले का सा सुख मिल रहा था।'

ऋग्वेद में और एक स्थान पर भुज्यु की कथा दी गई है। वह अपने साथियों के साथ समुद्र में तीन दिन रात तक इधर उधर भटकता रहा। समुद्र के विशेषणों में वहां पर आलंबन-रहित, भूप्रदेश रहित, सहारे के लिए पकड़ने योग्य शाखा आदि से रहित बतलाया गया है। भुज्यु को जिन अश्विनों ने बचाया उनकी नौका को शतपद कहा गया है। विद्वानों का अंदाज़ है कि वह सौ डाँड़ों से खेई जानेवाली होगी।[२८]

समुद्र में जानेवाली नौकाओं के बहुत से प्रमाण मिलने पर इसमें आश्चर्य का कोई कारण नहीं दीखता कि अगस्त्य ऋषि ने उन पर ही सवार हो दक्षिणी समुद्र पार किया हो और द्रविड़ों के बीच पहले पहल आर्य संस्कृति ले गए हों। आगे चल कर तो आर्यों की नावें समुद्र के किनारे-किनारे फारस की खाड़ी तक जाने लगी थीं। उसके तट के प्रदेशों से आर्यों के सामुद्रिक संबंध रहने के बहुतेरे प्रमाण मिलते हैं।

पर ये बातें अगस्त्य की दक्षिण-यात्रा के बाद की दीखती

---

२८. इस संबंध के मंत्र ऋक् १—११, ७, ५—८५, ६, ७—८८, २; १—११६, ३ और ५ हैं।

पुरानी अवश्य ही दिखाई देती है। ईरान के पश्चिम दजला और फ़रात नदियों के काँठे की सुमेर-अक्काद सभ्यता प्राचीन सभ्यताओं के इतिहास में विशेष महत्व रखती आई है। यह आज से छ हज़ार वर्ष पुरानी बतलाई जाती है। इस लुप्त सभ्यता की बहुत सी बातें द्रविड़ सभ्यता से मिलती जुलती हैं।

मोहन-जो-दड़ो और हरप्पा की खुदाई से भी साढ़े पांच हज़ार वर्ष पुरानी जो चीजें प्राप्त हुई हैं उनके आधार पर उस काल में वहाँ निवास करनेवालों की भाषा का स्वरूप निर्धारित करते समय कुछ विद्वान अनुमान करते हैं कि वह द्रविड़ थी। इन स्थानों की जिस प्राचीन सभ्यता का परिचय मिलता है उसमें सुमेर-अक्काद सभ्यता से इतना गहिरा साम्य है कि इन दोनों जगहों में एक ही सभ्यता और संस्कृति का प्रदर्शन स्वीकार करना पड़ता है और साथ ही साथ उन दोनों पर ही द्रविड़ सभ्यता की छाप भी स्पष्ट दिखाई देती है।

पर सुमेर-अक्काद और मोहन-जो-दड़ो एव हरप्पा की कई बातें वैदिक सभ्यता से भी मिलती जुलती हैं। इससे स्पष्ट अनुमान किया जा सकता है कि आर्यों के द्रविड़ों के साथ संपर्क स्थापित हो जाने पर सुमेरी तथा मोहन-जो-दड़ो की सभ्यता का विकास हुआ होगा।

इसमें सदेह नहीं कि आर्य और द्रविड़ सभ्यताएँ काफी अरसे तक अलग-अलग विकास कर चुकने पर एक दूसरे के

संपर्क में आई थीं। दोनों ही जातियाँ परिचय और आदान-प्रदान आरंभ करने के पहले ही सभ्यता की काफी ऊँची-ऊँची सीढ़ियाँ लांघ चुकी थीं। आर्य अपने मूल निवास से पृथक होने के पहले ही पशु पालना, घर बनाना, कपड़े बुनना और सीना तथा धातुओं से और काम लेने के सिवा नाना प्रकार के अस्त्र-शस्त्र तैयार करना सीख चुके थे। उनका उर्वर मस्तिष्क नए नए अन्वेषणों के द्वारा नए नए आविष्कार करता जा रहा था। इन्हीं अन्वेषणों की एक दिशा में अग्रसर होते होते वे दक्षिण-समुद्र पार कर द्रविड़ों के देश में जा पहुँचे थे।

उस समय तक द्रविड़ भी सभ्यता के क्षेत्र में काफी विकास कर चुके थे और सुसंस्कृत थे।[२६] वे खानों से तरह-तरह के धातु और 'खजाने' निकाल सकते थे। राजमिस्त्री की कला में उन्नति करने के सिवा, घर बनाना, शहर बसाना तथा रक्षात्मक दुर्ग तैयार करना वे जानते थे। अपने मिट्टी के बरतनों पर वे सुन्दर नक्काशी किया करते थे। सुन्दर पोशाक तैयार करने के सिवा औरतों के उपयोग में आने वाले सुन्दर कंगन भी वे गढ़ लेते थे। इन सब के अलावा बढ़ई के शिल्प में भी वे काफी प्रगति कर चुके थे। इससे वे समुद्र-यात्रा के उपयुक्त बड़ी बड़ी नौकाएँ बना लिया करते थे।

२६. श्री के० टी० शाहः 'दि स्प्लेंडर दैट वाज़ इण्ड'।

उससे उनके बीच समुद्र-यात्रा और व्यापार का सिलसिला काफी दूर तक प्रगति की दिशा मे अग्रसर हो चला था।

आर्य और द्रविड़ दोनो ही सभ्यताओ में परस्पर दान कर पाने की काफी सामग्री थी। पर वैदिक आर्य सभवत. जीवन-सग्राम के लिए अधिक सन्नध थे। उनमे दूसरो की विद्या अपनाने की ताक़त भी अच्छी थी। जहाँ तक संस्कृति की द्योतक प्रेरणाओ का प्रश्न था आर्यों मे विकास की रफ्तार द्रविडो की अपेक्षा अवश्य ही तेज थी। उस काल मे व्यवहार किए जानेवाले शस्त्रास्त्रों की खोज अभी नही की गई हैं, पर अनुमान से ऐसा ही प्रतीत होता है कि आर्य युद्ध विद्या के अधिक विकसित ढंग के शस्त्रास्त्रो से लैस थे।

इन सब विभेदो के कारण आर्यों के द्रविड़ो के सपर्क मे आने पर आर्य सभ्यता और संस्कृति की ही छाप अधिक गहरी पड़ती गई। द्रविड़ धीरे धीरे वैदिक सभ्यता के आँचल मे ढँकते गए। वे पूरी तरह विलीन अवश्य ही नहीं हो सकते थे। इसीलिए वे अपना रंग भी आर्यों के रंग पर काफी दूर तक चढ़ा पाने मे समर्थ हुए। इसी के परिणाम-स्वरूप उत्तर और दक्खिन भारत की सभ्यता-सस्कृति का विभेद मिटता ही गया है।

आजकल द्रविड़ो के विशुद्ध नमूने स्वरूप नीलगिरि और आनमलै पर्वतो की कुछ जंगली जातियाँ ही बच रही हैं।

इनका क़द औसत से कम होता है ; रंग काला तथा वाल भी काले और घुँघराले होते हैं। नाक इनकी मुख्य पहचान है जो बहुत चौड़ी होती है। इनके हाथ भी बड़े होते हैं। आर्यों की तरह ही ये दीर्घ कपाल हैं।

इन द्रविड़ों के निकट संपर्क में आ जाने पर भी आर्य शुरू शुरू में उनके साथ मिलकर एक हो जाने के विरोधी थे। आर्य अपनी विशेषताओं के स्थायी रखे रहने के ही पक्षपाती थे। इसी आत्मरक्षा के सिलसिले में उनके भीतर एक ऐसी मनोभावना का उद्भव हुआ जिसके कारण वे द्रविड़ वा किसी भी आर्येतर जाति को अपने जैसा मनुष्य न कह और ही नाम देने लगे। त्रेताकाल में जब आर्य विंध्य पार कर दक्षिण की ओर बढ़े तो वहाँ उन्हें द्रविड़ तथा अन्य आर्येतर सभ्य जातियाँ मिलीं जो नगरों में निवास करती थीं। उस समय तक उन पर आर्य-सभ्यता की छाप भी गाढ़ी पड़ने लगी थी। फिर भी आर्यों की आत्मरक्षा के भय की द्योतक मनोवृत्ति ने दक्षिणी जातियों को बन्दर और राक्षस नाम दिया। जिन लोगों ने आर्यों का साथ दिया वे मनुष्य की ही भाँति, पर उस कोटि के नीचे दर्जे के प्राणी—बन्दर कहलाये। जिनसे आर्यों की शत्रुता हुई उनका नाम राक्षस दे दिया गया।

आर्यों की उस विशेष प्रकार की मनोभावना ने सभ्य द्रविड़ों तक का इस ढंग का चित्र अंकित किया है कि उनके

मनुष्य होने पर भी पर्दा पड़ गया है। आज भी करोड़ों हिन्दुओं के मन पर यही छाप पड़ी है कि पुराने किष्किंधा निवासी बंदर-भालू और लंका के रहने वाले विलक्षण शक्ल वाले राक्षस थे।

पर आर्यों के फैलाव के सिलसिले में आगे चल कर इन्हीं दक्षिणवाली द्रविड़ तथा अन्य आर्येतर जातियों के साथ आर्य संस्कृति का बड़े ही सजीव तथा प्रगतिशील ढंग से संमिश्रण हुआ। उसी समिश्रण के विकास से हमारी भारतीय संस्कृति का उद्भव हुआ है और वही भारतीय जाति की वास्तविक जननी है।

प्रसार और संस्कृतियों का संगम

आर्यावर्त्ती आर्यों का प्रसार बहुत बड़े पैमाने पर हुआ है। सप्तसिंधव से बाहर निकलने पर आर्येतर जातियो से उनका सामना भी जम कर हुआ है। इस सिलसिले का संघर्ष तथा अंत में आर्यों की विजय भारतीय इतिहास की सबसे बड़ी तथा महत्वपूर्ण घटनाएँ हैं।

आर्येतर जाति के लोगों की संख्या सप्तसिंधव के सिवा भारत के सब प्रदेशों में आर्यों की अपेक्षा अधिक थी। ऐसे लोगों में द्रविड़ों के अलावा शबर तथा किरात जाति विशेष रूप से उल्लेखनीय थी। शबर के, लक्षण द्रविड़ों से मिलते जुलते और किरात के मंगोली नस्ल की तरह के थे। इन आर्येतर जातियों की संख्या, आर्य ज्यों ज्यों पूर्व और दक्षिण की ओर बढ़े, इस सीमा तक वृद्धि करती गई कि उन्हें न तो आमूल नष्ट कर पाना संभव था और न उन्हें उनके देश से ही निकाल बाहर किया जा सकता था। ऐसी परिस्थिति में

आर्य जिन प्रदेशों में गए और जहाँ अपनी बस्तियाँ बसाईं वहाँ कहीं तो अवसर पाकर उन्होंने वहाँ के आदिम निवासियों के साथ अपने सप्तसिंधव के दस्युओं जैसा व्यवहार किया और कहीं उनमें धीरे धीरे मिल गए।

इन नए प्रदेशों में आर्य अपने मूलस्रोत से जितना ही दूर पड़ते गए उनका अनार्यों से उतना ही अधिक सम्मिश्रण होना स्वाभाविक था। पर आर्य अपनी प्रकृति और स्वभाव को दबा कर संयम के रास्ते ही उन्नति करने के पक्षपाती थे। उनके इसी विचार ने उन्हें अपने ऊपर अनेक तरह के बंधन लगाने की प्रेरणाएँ दीं। इनके समाज में, सहनिवास, सहभोज, विवाह आदि मामलों में अनार्यों का संपर्क सीमित तथा यथासंभव निषिद्ध ठहरा दिया गया।

आर्यों के अपने ऊपर इन बंधनों के लगाने में उनका यही अभिप्राय जान पड़ता है कि वे संस्कृति-भेद के रहते सांकर्य से बचना चाहते थे। असंस्कृत और असभ्य जाति की कन्याएँ ग्रहण करने में उन्हें भय था कि उनसे जो संतान होगी उसमें संस्कृत पूर्वजों के गुण दब जाएँगे और निकृष्ट गुण ऊपर आ जाएँगे। वैसी संतान में आर्यों को अपनी विचारशीलता और धर्मबुद्धि के नितांत अभाव हो जाने का भय था।

पर जाति-विशुद्धि बनाए रखना आदमियों द्वारा अपने

ऊपर लगाए बंधन और सयम संबधी नियमो की ताकत के बाहर की बात है। विशुद्धि का नियम एक अजीब प्राकृतिक अघशक्ति पर निर्भर करता है जिसके सामने मनुष्यो के बनाए नियम नहीं टिक पाते और उन्हें हार ही माननी पडती है।' इन प्राकृतिक नियमो के सामने आर्य जाति भी निरुपाय थी। अधिक दिनों तक अनार्य जातियों के साथ वास करने के फलस्वरूप आर्यों की *वर्ण-विशुद्धि भी टिकी नहीं रह* सकी। आर्येतर जातियो के साथ आर्यों के हजारों वर्ष तक गहरे सपर्क में रहते आने का ही यह परिणाम हुआ है कि हमारे देश के किसी भी प्रात में बसने वाले निवासी इस बात का दावा नहीं कर सकते कि उनमे एक ही उपजाति की विशुद्ध रक्तधारा बह रही है। भारतीय मनुष्य-गणना के वृत्तांत से ही स्पष्ट जान पड़ता है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि सभी जातियो के चेहरे प्रदेश-भेद से भिन्न भिन्न तरह के हैं— द्रविड़-बहुल देश मे वह द्रविड मुखाकृति से मिलते हैं, मंगोल-बहुल प्रदेशों मे मगोल चेहरों से और शक-बहुल प्रदेशो में शक-आकृतियों से।

उच्चकोटि की सभ्यता प्राप्त किए रहने के कारण आर्यों ने अपने प्रसार के समय भारत की द्रविड जैसी जातियो की सभ्यता वा संस्कृति नष्ट नहीं की, वल्कि उन पर उन्होंने पूरी तरह अपना रग चढ़ा दिया। बाद मे भी जितनी जातियाँ

आती रही हैं वे भी आर्यों के बीच विलीन होती गई हैं। आर्यों के इन प्रयासो के ही बल एक भारतीय संस्कृति और एक भारतीय जाति बन पाई है।

आर्य जिन आर्येतर जातियों के संपर्क में आए उनमें कुछ तो काफी हद तक सभ्य थीं और कुछ बिलकुल ही असभ्य। इन दोनो प्रकार की जातियों के साथ संघर्ष में पड़ कर आर्यों को बहुत कुछ ग्रहण करना पड़ा है। विशेषज्ञों का ख़याल है कि अपने नए प्रसार क्षेत्र मे आर्यों के दल में स्त्रियों की संख्या कम रहना स्वाभाविक था, इसीलिए उन्हें आर्येतर जाति की कन्या ग्रहण करने में कोई आपत्ति नहीं रही होगी। शास्त्रों और पुराणों के अनुसार देवताओं, ऋषि-मुनियों के चरित्र में भी इस 'दोष' का प्रवेश कुछ कम मात्रा मे नही था। इससे अंत में इन आर्येतर जाति की स्त्रियों की संख्या ही ज्यादा हो उठी। इसी का असर आर्यों के जीवन, उनके आचार-व्यवहार, रीति-नीति, विचार-धारा, धर्म-विश्वास और उनकी उपासना-पद्धति पर बहुत गहरा पड़ा है।[१०]

आर्येतर जाति की जिन स्त्रियो को आर्यों ने अपनाया

---

१० श्री क्षितिमोहन सेन : 'भारतवर्ष में जाति भेद', इस पुस्तक का भारत में नाना संस्कृतियों का संगम, तथा अन्य अध्याय देखना चाहिए। वहीं से आगे के भी कई वृत्तांत उद्धृत किए गए हैं।

उनकी प्रवृत्ति पतिकुल के यज्ञयागादि की अपेक्षा पितृकुल की पूजा-पद्धति की ओर ही अधिक थी, इसीलिए वे यज्ञादि कृत्यों में विशेष उत्साहशीलों नहीं थीं। उनके इसी अपराध के कारण नियम पालन कराने वाले शास्त्रज्ञों ने स्त्री और शूद्र को एक श्रेणी में डाल दिया। पर इसका उन स्त्रियों ने आर्यों से बुरी तरह प्रतिशोध लिया।

पुराणों के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि शिव, विष्णु आदि की पूजा बहुतेरी विरुद्धताओं के भीतर से हिन्दू समाज मे प्रविष्ट हुई थीं। ऋषि-मुनि लोगो ने शिव-पूजा और लिंग-पूजा को आर्य धर्म से दूर रखने का जी-तोड़ प्रयत्न किया, किन्तु ऋषि-पत्नी गण उनके विरुद्ध आचरण कर उनकी पूजा भारतीय आर्य-समाज में चला देने में सफल हो गईं। उन्हीं के जोर से कई प्रकार के भूत, भैरव, शीतला, विनायक, ग्रामदेवी, कुलदेवी, पिशाच, पशु, पक्षी, पेड़, नदी आदि की पूजा पर वैदिक आर्य संस्कृति की मुहर लग गई। उनके साथ साथ देवी-पूजा और तंत्रमत को भी वैदिक मत में स्थान मिला। धीरे-धीरे इन सबका ही प्रभाव इतना अधिक बढ़ा कि उनके सामने वैदिक देवताओ को ही स्थान-च्युत होना पड़ा।

इसी प्रकार होली वा वसंतोत्सव जैसे बहुत से उत्सव भी अनार्यों के संसर्ग से ही आर्यों के बीच प्रचलित हुए, इसी

लिए बहुत से लोग इन्हें भी शूद्रोत्सव कहते हैं। इनके अलावा नृत्य-गीत आदि कलाओ का प्रचार आर्यों के बीच पहले से रहने पर भी उनकी समृद्धि आर्येतर लोगो के सहवास मे ही हुई।

इन सब बातो पर दृष्टि डालने से यही स्पष्ट होता है कि आरभ में आर्य जिन बातों से बहुत भय खाते थे आगे चल कर वे ही बातें उनके सास्कृतिक और सामाजिक इतिहास की सबसे बडी घटनाएँ बन गईं। आर्यों ने अपनी चीजो की यथासभव रक्षा करने की चेष्टा की, पर उनमे बहुत कुछ समिश्रण अनिवार्य रूप से आ गया। असल में ही, आसपास के चतुर्दिक प्रचलित प्रभाव को रोक रखना असभव हो जाता है। प्राचीन आर्य-गण को भी यह मानने के लिए बाध्य होना पडा था कि गण-चित्त को प्रसन्न किए बिना वास करना कठिन है। इन्हीं कारणो से अनार्य देवताओ को भी आर्य लोग अस्वीकार नही कर सके।

दूसरी ओर आर्यों के आर्येतर जातियो के गहरे ससर्ग मे आने का एक बहुत सुन्दर भाग भी रहा है। हमारे उन आर्य पूर्वजों की कीर्ति की बडी खूबियो मे एक यह प्रधान थी कि वे आदमियो के बीच के अनावश्यक भेद मिटा कर उन्हें एक सास्कृतिक स्तर पर ले आने की चेष्टा करते थे। इसी कारण सम्मिश्रण से आने वाली अनेक बुराइयो के

बावजूद भी प्राचीन आर्य ह्रास की ओर न जा विकास की ही ओर अग्रसर होते गए थे। उन आर्यों तथा हमारे देश का सबसे बड़ा कल्याण यहाँ की विभिन्न जातियों को एक दूसरे के निकट ले आने में ही था। सुसंस्कृत आर्य इस संबंध में अपना दायित्व बहुत भली भाँति अनुभव करते थे। इसी प्रेरणावश उन्होंने अपना एक बहुत बड़ा आदर्श इस देश में बसने वाली सब जातियों को ऊपर उठाने का प्रयत्न करते रहना बना लिया था। इसी विचार से आज से कई हजार वर्ष पहले ऋषियों ने आर्यों को आदेश दिया था—'कृणुध्वम विश्वमार्य्यम्'—सारे विश्व को आर्य बनाओ।

उन आर्यों में इस महान चेष्टा के उपयुक्त ही महान शक्ति थी। उनकी उस शक्ति का ही यह परिणाम हुआ है कि हमारा देश भी महान् बन पाया है। यहाँ के विविध प्रांतों की बनावट, जलवायु, वृक्ष-वनस्पति भिन्न भिन्न प्रकार के हैं। उन अंचलों में रहने वाले आदमियों की आकृति, रहन-सहन, बोली आदि भी विविध प्रकार के हैं। फिर भी हमारे आर्य पूर्वजों के भगीरथ प्रयत्न का ही यह नतीजा है कि इस विशाल देश की नाना प्रकार की विविधताओं में भी एक अद्भुत एकता दिखाई देती है। हमारा महान देश एक ही—भारतवर्ष है। आर्यों ने इसे पूरी तरह अपनाकर

इस भूमि के कण कण पर अपनी सभ्यता और संस्कृति की पूरी छाप लगा दी है।

हम अपने पूर्वजों की इस सफलता के आधार पर ही अंदाज लगा सकते हैं कि उनकी जीवनधारा की गति कितनी तेज़ थी। सारे संसार का इतिहास ढूंढ़ आने पर भी हमें आर्य जाति के समान और किसी वैसी जाति का वृत्तांत नहीं मिलता जिसने हजारों साल से अपने प्रवाह से भारत जैसे एक महान देश का इतिहास सिर्फ निर्धारित ही नहीं किया है बल्कि इस भूमि पर बसने वाली एक महान जाति के उत्कर्ष और पतन, विजय और हार, कार्य-सलग्नता और मूर्छा—सब अवस्थाओं में नित्य नई नई प्रेरणाएं दी हैं। उन महान् आर्यों के व्यक्तित्व ने ही हमारे राष्ट्रीय जीवन को एक सूत्र में बांध रखा है और हमारे राष्ट्रीय जीवन में आज भी वही धारा का काम करता जा रहा है।

राजनैतिक विकास

'अराजकता'

उस प्राचीन काल में जब देवासुर-सग्राम चल रहा था, जब आर्यों का प्रथम प्रसार आरभ हुआ था तब उन्हें राजनीति शास्त्र या 'अर्थशास्त्र' की बडी आवश्यकता प्रतीत हुई। काव्य असुरो के और वृहस्पति देवो के महामत्री बने। इन दोनो आचार्यों ने अपने अपने पक्ष के लिए अपेक्षित शास्त्र रचे। यह सिलसिला जब एक बार चल पड़ा तो उसमे उत्तरोत्तर विकास ही होता गया। आर्यों के बीच जैसे ज्ञानी मत्रद्रष्टा ऋषि हुए वैसे ही दूसरी ओर धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र आदि के रचयिताओ का भी उद्भव हुआ। इन दोनो मे भी आर्यों का ज्ञान उनके वेदमत्रो के ज्ञान के अनुरूप ही विकसित कोटि का रहा है।

राजनैतिक विकास का वर्णन करते समय अथर्ववेद मे कहा गया है—'वराड् वा इदमग्र आसीत'—सृष्टि के प्रारभ में केवल एक राजा के विहीन प्रजाशक्ति थी। हजारो वर्ष

वाद महाभारत के रचयिता का भी यही विश्वास था। शांति पर्व में भीष्म ने सतयुग के विषय में कहा है—'कृतयुग के प्रारंभ में न तो कोई राज्य था और न कोई राजा था, दंडकर्ता और दंड कुछ भी नहीं था, अर्थात् कोई व्यक्ति शासन-कार्य के लिए नियुक्त नहीं किया जाता था। प्रजा ही धर्म की अनुगामिनी होकर आपस में एक दूसरे की रक्षा करती थी—उस समय केवल कानून या धर्मशास्त्र का ही शासन होता था।'[२१]

जिस किसी ने राजशास्त्र का थोड़ा भी अध्ययन किया है उसे यह स्पष्ट हो जाता है कि सतयुग की वह बिना शासक वाली शासन प्रणाली बहुत उच्चकोटि के आदर्शवादियों की प्रणाली रही होगी। इस प्रकार की शासन प्रणाली सफल बनाने के लिए साधारण कोटि के नागरिकों में भी स्वतः चेतना और जिम्मेवारी का भाव रहना नितांत आवश्यक है। इन भावों को लाने के लिए उनका दृढ़ सामाजिक बंधन में रहना और उनके भीतर पारस्परिक निश्चय को हमेशा मानते चलने की स्वाभाविक प्रवृत्ति रखना भी लाजिमी रहता है। एक शब्द में—इस प्रणाली को हम प्रजातंत्र की चरम सीमा कह सकते हैं। हमारे जमाने में

२१ शांति पर्व ५९—१४।

उस सीमा तक सिर्फ टाल्सटाय जैसे आदर्शवादी अपने विचारो के सहारे पहुँचने की कोशिश करते रहे हैं।

शासन प्रणाली का यह आदर्श इतना ऊँचा है कि उतने प्राचीन काल मे वैदिक आर्यों ने इसे वास्तविकता मे परिणत कर दिखाया होगा इस बात पर पहले विश्वास जमाना ही कठिन होता है। पहली दृष्टि मे यह उस जमाने के राजशास्त्रियो की कपोल-कल्पना सी दीखती है। पाश्चात्य जगत के वैसे विचारक जो वहशी ज़माने से ही विकास का अध्ययन आरभ करते हैं उन्हे यह बिलकुल उल्टी सी बात जँच सकती है।

परतु हमारे यहाँ के प्राचीन साहित्य के अनेक वृत्तात हमें यह मानने के लिए विवश करते हैं कि सतयुग के आरभ के ढग की आदर्श शासन प्रणाली का हमारे देश मे अनेक बार अनुभव किया जा चुका है। उस आदर्श की नींव पर सृष्टि किए गए 'अराजक-राष्ट्र' हमारे यहाँ बहुत ज़मानों में और काफी समय तक स्थायी रहे हैं। यादवो के बीच के वीतिहोत्र या वैतहव्य एक प्रसिद्ध अराजक जन थे। जैन सूत्रो मे भी अराजक राज्य का इस ढग का वर्णन मिलता है जिससे ज्ञात होता है कि वह प्रणाली उनके काल मे प्रचलित थी। उनमे, श्री जायसवाल के अनुसधान के अनुसार जिस वर्ग मे उल्लेख

है उसमें की सभी शासन प्रणालियाँ वास्तविक और ऐतिहासिक है।[११]

महाभारत के शांति पर्व में दिए गए शासन प्रणालियों के वर्णन से यह स्पष्ट हो जाता है कि वे एकराज शासन प्रणाली के पक्ष की दृष्टि से लिखे गए हैं। फिर भी उनसे पता चल जाता है कि महाभारतकार अराजक शासन प्रणाली से भलीभाँति परिचित थे। वह प्रणाली गोत्रीय आधार पर नहीं बल्कि कानूनी और पंचायती आधार पर निर्मित थी। इस अराजक प्रजातंत्र प्रणाली के संबंध में लिखित सिद्धांत या सिद्धांतों के संग्रह भी महाभारत काल में अवश्य ही उपलब्ध थे। इससे हमें यह संकेत मिलता है कि भली भाँति विचार करने के बाद कुछ ऐसे दार्शनिक आधार निश्चित किए गए थे जिन पर अराजक प्रजातंत्र की सृष्टि हुई थी।

अराजक राज्य में व्यक्तित्व की प्रधानता पराकाष्ठा तक पहुँची हुई होती थी। जो लोग अराजक सिद्धांत के पक्षपाती होते थे वे स्वयं शासन या सरकार को ही एक बड़ा भारी दोष या ख़राबी समझा करते थे। वे किसी भी व्यक्ति वा व्यक्तियों के समूह को शासन करने का अधिकार नहीं दे

---

१२. आयारंग सुत्त—जैकोबी वाला संस्करण २—३—१—१०।

श्री काशीप्रसाद जायसवाल लिखित 'हिन्दू पौलिटी' से उद्धृत; राजनैतिक विकास के अध्यायों में 'हिन्दू पौलिटी' से बहुत से उद्धरण लिए गए हैं।

सकते थे। उनके बीच केवल कानून या धर्म का ही शासन चलता था। और यदि कोई किसी प्रकार का अपराध करता था तो उसके लिए उनके यहाँ एकमात्र यही दंड था कि वह समाज से निकाल दिया जाए।

एकराज शासन प्रणाली के पक्षपाती होने के कारण महाभारतकार ने कहा कि[१३]—"अराजक राज्य से बढ़ कर खराब और कोई राज्य नहीं हो सकता। यदि कोई बलवान नागरिक क़ानून या धर्म का पालन करता रहे, तब तो कुशल है, परंतु वह यदि विद्रोही हो जाए तो वह सब कुछ निःशेष या नष्ट भी कर दे सकता है। × × × मैंने सुना है, जैसे बड़ी मछली जल में छोटी मछलियों को खा जाती है, वैसे ही अराजक राज्य की प्रजा नष्ट हुई थी। इस भाँति जब वे नष्ट होने लगे तब उन सब लोगों ने परस्पर मिल के शपथपूर्वक यह नियम स्थापित किया कि—'हम लोगों के बीच जो निष्ठुर वचन कहने वाला, कठोर, दंडयुक्त और पराया धन हरने वाला होगा वह हम लोगों से त्याज्य समझा जाएगा।' वे लोग सामान्य रूप से सब वर्णवालों के विश्वास के लिए आपस में ऐसी ही प्रतिज्ञा कर विरोध-रहित हो निवास करने लगे।"[१४]

---

१३ शांतिपर्व ६७—८।

१४. शांतिपर्व ६७—१८, १९।

इस वर्णन से इतना स्पष्ट है, कि अराजक सिद्धांत में राज्य का पहला आधार सामाजिक बंधन ही होता था। अराजक प्रजातंत्रवादियों के अनुसार नागरिकों में परस्पर एक प्रकार का समझौता हो जाता था और उसी के आधार पर राज्य की स्थापना होती थी।

इस समझौते का सिद्धांत वास्तव में ही बहुत बड़े ऐतिहासिक महत्व का साबित हुआ है। महाभारत में भी जब एकराज शासन प्रणाली के पक्षपाती राजा और प्रजा के बीच धर्मपूर्वक शासन करने और उसके बदले में कर ग्रहण करने के संबंध में समझौता होता है तब वे यही कहते हैं कि— 'हमें यह समझौता इसलिए करना पड़ा कि अराजक शासन प्रणाली का जो समझौता हुआ था वह ठीक तरह से कार्य रूप में परिणत न हो सका।' यहाँ एक-राज शासन प्रणाली के पक्षपाती वास्तव में उसी सामाजिक समझौते का सिद्धांत ग्रहण करते हैं जिसे पहले अराजकों ने ग्रहण किया था। आगे चल कर हमारे देश में जो प्रजातंत्र राज्य हुए उनमें किसी न किसी रूप में सामाजिक समझौते का सिद्धांत काम करता था। इस समझौते का ही भाव एकराज शासन प्रणाली में व्यवहृत होता था जिसे कौटिल्य तक एक सर्वमान्य और सत्य सिद्धांत मानते थे।

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि समझौने के सिद्धांत का

आरंभ हमारे देश में बहुत प्राचीन काल में हुआ था। वह मानव इतिहास में सिर्फ सबसे अधिक प्राचीन ही नहीं था बल्कि उसका स्वरूप भी बहुत विकसित था। साथ ही जिस अराजक प्रणाली को आज भी हमारे जमाने के महान विचारक आदर्श मानते हैं और उसकी विवेचना अब भी अपने कल्पना-जगत में ही किया करते हैं उससे ही हमारे पूर्वजों ने अपने आर्थिक, सामाजिक और राजनैतिक जीवन सचालित करने वाली संस्थाओं का उद्भव माना है।

प्राचीन प्रजाशक्तियों की क्रान्तियाँ

अराजक प्रणाली के सबध में महाभारतकार का भय खाना कुछ हद तक अवश्य ही व्यावहारिक अनुभव से सबध रखता था। उस प्रणाली में विचार तथा सम्मति-प्रकाशन की पूरी स्वतत्रता थी। उसकी सफलता बहुत हद तक नागरिकों के अपनी प्रेरणावश ही नियम मानते जाने पर निर्भर करती थी। पर अडंगा लगाने वाले विद्रोहियों के उद्भव हो जाने पर उस प्रणाली का चल पाना असभव था।

जनसख्या की वृद्धि के साथ साथ उपर्युक्त अर्थ मे विद्रोहियों की सख्या में ही वृद्धि होती गई। इस वृद्धि के कारण प्रचलित नियम भी सब मामलों में नियत्रण रख पाने में असमर्थ हो गए। तब उसके साथ-साथ प्रजाशक्तियों में उथल पुथल हुई और उनसे नई नई शासन-प्रणालियों का उद्भव हुआ। इसका वर्णन अथर्व वेद ने किया है—'पहले बिना राजा के केवल एक प्रजाशक्ति ही थी। इस अवस्था से

आरंभ हमारे देश में बहुत प्राचीन काल में हुआ था। वह मानव इतिहास में सिर्फ सबसे अधिक प्राचीन ही नहीं था बल्कि उसका स्वरूप भी बहुत विकसित था। साथ ही जिस अराजक प्रणाली को आज भी हमारे ज़माने के महान विचारक आदर्श मानते हैं और उसकी विवेचना अब भी अपने कल्पना-जगत में ही किया करते हैं उससे ही हमारे पूर्वजों ने अपने आर्थिक, सामाजिक और राजनैतिक जीवन सचालित करने वाली संस्थाओं का उद्भव माना है।

प्राचीन प्रजाशक्तियों की क्रान्तियाँ

अराजक प्रणाली के संबंध में महाभारतकार का भय खाना कुछ हद तक अवश्य ही व्यावहारिक अनुभव से संबंध रखता था। उस प्रणाली में विचार तथा सम्मति-प्रकाशन की पूरी स्वतंत्रता थी। उसकी सफलता बहुत हद तक नागरिकों के अपनी प्रेरणावश ही नियम मानते जाने पर निर्भर करती थी। पर अडगा लगाने वाले विद्रोहियों के उद्भव हो जाने पर उस प्रणाली का चल पाना असंभव था।

जनसंख्या की वृद्धि के साथ साथ उपर्युक्त अर्थ में विद्रोहियों की संख्या में ही वृद्धि होती गई। इस वृद्धि के कारण प्रचलित नियम भी सब मामलों में नियंत्रण रख पाने में असमर्थ हो गए। तब उसके साथ-साथ प्रजाशक्तियों में उथल पुथल हुई और उनसे नई नई शासन-प्रणालियों का उद्भव हुआ। इसका वर्णन अथर्व वेद ने किया है—'पहले बिना राजा के केवल एक प्रजाशक्ति ही थी। इस अवस्था से

सब भयभीत हो गए और विचार करने लगे कि क्या यही अवस्था हमेशा रहेगी ? × वह प्रजाशक्ति उत्क्रांत हुई—उसमें क्रान्ति हुई और गृहपति में परिणत हो गई। अर्थात जो अलग अलग मनुष्य थे उनके व्यवस्थित कुटुंब बन गए और कुटुंब बनने से गृहपति भी बन गया—कुटुंब में स्वामी की कल्पना प्रथम उत्पन्न हुई। × × वह प्रजाशक्ति उत्क्रांत हुई और सभा में परिणत हो गई। जो यह जानता है वह सभ्य—सभा के योग्य बनता है। × × वह प्रजाशक्ति उत्क्रांत हुई और समिति में परिणत हो गई। जो यह जानता है वह समिति के योग्य बनता है। (अनेक ग्रामों के समूहों की सुव्यवस्था के लिए ग्राम सभाओं के प्रतिनिधियों से समिति बनी।) × × उस प्रजाशक्ति में क्रान्ति हुई और वह आमन्त्रण—मंत्रिमंडल में परिणत हो गई। जो यह जानता है वह आमंत्रण परिषद् के योग्य बनता है। × × वह (मंत्रिमंडल के प्रधान से तात्पर्य है) प्रेम करने लगा, रञ्जन करने लगा, इसलिए राजा बन गया। वह बंधुजनों सहित प्रजाओं के लिए अन्न खाद्य पेयादि का प्रबंध करता रहा इस लिए बांधवों सहित सब प्रजाओं के अन्न तथा खाद्य पेयादि का प्रिय पात्र—निधारक बना। जो यह जानता है वह भी वैसा अर्थात् राजा होता है। वह प्रजाओं के अनुकूल आचरण करता रहा। उसके लिए सभा, समिति, सेना और धनकोष

अनुकूल हो चले। जो यह जानता है वह सभा, समिति सेना और धनकोष का प्रिय पात्र होता है।'

आखिरी मंत्र से तात्पर्य निकलता है कि सभा, समिति, सेना और धनकोष पर लोक सभा का ही अधिकार होता है इसलिए राजा के प्रजामत के अनुकूल राज्य शासन चलाने पर ही उसे उन संस्थाओ का निर्धारण-कार्य सौंपा जा सकता है।[१५]

वेदमंत्रो के इस छोटे से वर्णन में हमारे देश के प्राचीन काल की राजनैतिक संस्थाओ के हजारो वर्ष के विकास क्रम पर प्रकाश डाला गया है। महाभारत से भी उसकी पुष्टि होती है।[१६] उसमे 'जनश्रुति' के आधार पर शासन प्रणालियों के परिवर्तित होने का विवरण दिया गया है। शांतिपर्व में सतयुग के आरंभ में प्रचलित अराजक प्रणाली का जिक्र करने के बाद कहा गया है कि पारस्परिक विश्वास के अभाव के कारण उस प्रकार का कानून या धर्म का शासन अधिक दिनों तक न चल सका। लोगो का चित्त भ्रमित होने लगा।' चित्त विभ्रम होने पर ज्ञान लोप और धर्म कार्य नष्ट होने लगे। लोभ और मोह उपस्थित हो जाने के कारण लोग अप्राप्त वस्तुओं की भी इच्छा करने लगे। वेद आदिक नष्ट

---

१५. अथर्ववेद ८—१०, १ से १२ मंत्र तक १५—८, १, १५—८, २, १५—६, २

१६. शांतिपर्व ५६वां अध्याय।

भ्रष्ट और यज्ञादिक कर्म लुप्त होने लगे। तब लोग भयभीत होकर ब्रह्मा के पास गए। उन्होने शासन-सिद्धांतो के सबंध मे एक महान् ग्रथ लिख कर दिया और कहा कि—'दंड से ही जगत बना है और उसीसे उसका निर्वाह भी होता है इसलिए यह नीति तीनो लोक के बीच दड नीति नाम से प्रसिद्ध होगी।' हमारे यहा के प्राचीन साहित्य मे जो ग्र थ राजनैतिक सिद्धातो अथवा शासन कार्यो से सबंध रखते थे आरभ में दडनीति ही कहलाते थे। ब्रह्मा का दिया हुआ दडनीति शास्त्र ही महाभारत काल में बार्हस्पत्य शास्त्र कहा जाता था।

ब्रह्मा के दिए शास्त्र से प्रभावित हो लोगों ने प्रजापति विष्णु के निकट उपस्थित हो कर कहा—'जो सपूर्ण मृत्युलोक-वासी प्राणियो पर प्रभुता कर सके आप वैसे किसी एक पुरुष को आज्ञा दीजिए।' विष्णु ने मानस पुत्र उत्पन्न किए। उनके वश मे अधर्म आचरण करने वाला—वेन राजा हुआ जिसे ब्रह्मवादी ऋषियो ने कुशों से मार डाला। वेन की एक सतान भी निकृष्ट थी उसे ऋषियो ने—'पतित हो' अभिशाप दिया और देश से निर्वासित कर दिया। उस निर्वासित की ही सतान महाभारत के अनुसार विंध्या के पर्वत और वनो में निवास करने वाले 'निपाद' हुए और उन निपादो से ही अनगिनित म्लेच्छ उत्पन्न हुए।

पर वेन का दूसरा पुत्र ऐसा था - 'मानो दण्डनीति ने ही मूर्तिमयी होकर उसका आसरा ग्रहण किया हो।' वे ही पृथु थे जिन्होने पृथ्वी पर राज्य स्थापित किया। उन्होंने भूलोक में धर्म स्थापित कर प्रजा के मन का रञ्जन किया। उसी समय से 'राजा' शब्द प्रचलित हुआ। पृथु ने धर्मपूर्वक मेदिनी को प्रथित किया था उसी कारण यह धरा पृथ्वी नाम से विख्यात हुई। यहाँ यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि एक ख़ास 'समझौता' हो जाने पर ही लोगों ने पृथु को राजा बनाया था।

इस पृथ्वी पर 'राजा' की उत्पत्ति के इस वृत्तात का आधार स्वय महाभारतकार ने ही जनश्रुति कहा है। अवश्य ही यह जनश्रुति उस काल की है जब आर्यों का प्रसार काफी दूर तक हो गया था और ब्रह्मा विष्णु जैसे आर्येतर जातियोंके, विशेषकर दक्षिण भारत में पूजे जाने वाले देवताओं को आर्यों ने अपना लिया था।

राजा द्वारा राजत्व की प्रणाली एक बार स्थापित हो जाने पर भी लोप होती रही है। महाभारत में एक और स्थान पर प्रतिपादित सिद्धात से इसकी पुष्टि होती है।[१०] शाति पर्व में ही कहा गया है कि अराजक राज्य के निवासी जब राजद्रोही और उपद्रवी हाने लगे तब उन्होंने उपद्रवो और

१० शांतिपर्व ६७वां अध्याय।

अपराधो को रोकने के लिए एक 'सभा' मे कुछ विशिष्ट निश्चय स्वीकृत किए और कानून बनाए। आपस मे एक दूसरे का विश्वास उत्पन्न करने के लिए सब जातियो ने मिल कर कुछ बंधन निर्धारित कर उनके अनुसार जीवन-निर्वाह करना निश्चित किया। पर जब यह प्रणाली न चल पाई तब उन्होने ब्रह्मा से शिकायत की—'हमलोगों मे कोई राजा न रहने से हमारा दुख बढ़ रहा है। हम सब नष्टप्राय हो गए हैं। आप हमलोगो के लिए एक राजा नियुक्त कीजिए। लोगों के इस कथन से पता चलता है कि उसके पहले उनके बीच राजा हो चुके थे पर वह प्रणाली बाद में नष्ट हो गई थी। ब्रह्मा ने तब मनु को इन लोगो का राजा होने की आज्ञा दे पुन एकराजतन्त्र प्रस्थापित किया।

मनु ने भी पहले तो राजा होना अस्वीकार किया पर बाद में प्रजा के साथ एक खास समझौता हो जाने पर वह भार स्वीकार कर लिया। इस प्रकार फिर से समझौते के आधार पर ही हम राजा के निर्वाचित होने का उदाहरण पाते हैं। इससे भी स्पष्ट होता है कि शासन प्रणालियों के विकास मे प्रेरणा लाने वाली प्रजा शक्तियों की क्रान्तियाँ ही रही हैं।

विदथ, सेना, सभा और समिति

सतयुग के ढंग की अराजक प्रणाली नष्ट होने के समय सब लोगों के परस्पर मिल कर नियम स्थापित करने की चेष्टाओं का महाभारतकार का वर्णन बहुत स्वाभाविक दीखता है। बहुत संभव है, सर्व साधारण के उस जमाव का ही नाम आगे चल कर 'विदथ' पड़ गया। यही आर्यों की सबसे पहली और मूल संस्था थी। इसका संबंध नागरिक, धार्मिक और सैनिक तीनों ही प्रकार के कार्यों से था। बहुत दिनों बाद—एकराज शासन प्रणाली चल पड़ने पर भी विदथ का बहुत अधिक महत्व था। ऋग्वेद का एक मंत्र है—'राजा विदथ से मिल कर समग्र प्रजासंबंधी कार्यों के लिए तीन सभा नियत कर उन्हें बहुत प्रकार से अलंकृत करे।'[१८] वे तीन संस्थाएँ अवश्य ही सभा, समिति और सेना थीं। अथर्ववेद में उन्हीं

---

१८. ऋ० ३८, ६।

का जिक्र करते हुए कहा गया है—'त सभा च समितिश्च सेन च।'[३९] इन तीनो के प्रबल सस्था बन जाने पर विदथ केवल धार्मिक जीवन की—यज्ञ यागादि मामलो से सबध रखने वाली सस्था रह गई।

प्राचीन काल मे सब लोग सैनिक होते थे इसी लिए सेना स्वय एक सस्था समझी जाती थी। वह सघटनात्मक समूह के रूप में होती थी। उसकी सफलता के लिए आराधना करते समय एक वेद मत्र में कहा गया है—'यह सब सूर्य की पताका लेकर युद्ध करने वाली सचेत देव सेना हमारे शत्रुओं को जीते। इस सेना के सहयोग मे हम अपना सवस्व अर्पण करते हैं।'[४०]

सेना के सिवा सभा और समिति वैदिक काल मे भी बहुत प्राचीन सस्था मानी जाती थी। वे प्रजापति की कन्याएँ कही जाती थीं। उनके सबध मे वेदमत्र कहते हैं—'प्रजापति की दोनों कन्याएँ सभा और समिति साथ साथ और मिलकर मेरी सहायता करें। जिनके साथ मैं मिलूँ, वे मेरे साथ सहयोग करें। हे पितरो! जो लोग एकत्र हों उनके साथ मैं सुचारु रूप से बोलूँ। × × हे सभा हमलोग तेरा नाम जानते हैं। अवश्य ही तेरा नाम नरिष्ठा है—(नरिष्ठा

---

३९ अ० १५—६, २।

४० अ० ५—२१ १ १२।

बहुत से लोगों के उस निर्णय वा निश्चय को कहते हैं जिसका उल्लंघन न हो सके)। जो लोग तेरे सभासद हैं वे मेरे साथ सत्य वचन बोलने वाले होवें। × × इन बैठे हुए सभासदों से मैं बल और ज्ञान प्राप्त करूँ। हे इन्द्र, मुझे तू सफल कर। × × × यदि तुम्हारा मन कहीं दूर चला गया हो, अथवा वह कहीं इधर-उधर बँध गया हो, तो मैं उसे इस ओर प्रवृत्त करता हूँ।'[९१]

वैदिक साहित्य में सभा शब्द अनेक अर्थों में आया है। पर उन वर्णनों से ज्ञात होता है कि सम्भवतः प्रत्येक ग्राम के सब व्यक्तियों की संस्था को ही पहले-पहल सभा कहा गया था। सभा शब्द का अर्थ भी है—वह समूह जिसमें सब लोग एक साथ मिलकर प्रकाशमान हों। सभा में जाने वाले विशेष आदर या सम्मान के पात्र होते थे। उसका जो प्रधान अधिकारी होता था वह सभापति कहलाता था। यजुर्वेद के एक मंत्र में उनकी स्तुति है—'नमः सभाभ्यः सभापतिभ्यश्च।'[९२] राष्ट्र के न्यायालय का कार्य भी एक सभा विशेष द्वारा ही संचालित होता था। संभव है वह सभा एक चुनी हुई छोटी संस्था थी। यह ग्राम संस्था से भिन्न सभा रही होगी। संस्था संबंधी अर्थ में ऋग्वेद ने सभा का जिक्र करते हुए

९१. अ० ७—१२ १ से ४ मंत्र।

९२. शुक्ल यजु १६, २४।

कहा है—'उसके सब मित्रगण अपने उस मित्र से बहुत प्रसन्न होते हैं जो सभा मे विजयी होता है और विजय के कारण यश प्राप्त करता है । ऐसे विजयी और यशस्वी मित्र से बहुत प्रसन्न होते हैं क्योंकि वह अपने समाज के पापों को दूर करता है, अपने मित्रों को धन देकर सहायता करता है और सांसारिक व्यवहार मे इन मित्रों का अतिशय हितकारी होता है ।'[४१]

वैदिक काल के पूर्वजों की सभा से भी बड़ी संस्था 'समिति' थी। समिति का अर्थ है सबका एकत्र होना। वैदिक काल मे यह जन साधारण की राष्ट्रीय सभा थी। संभवतः अनेक ग्रामों के समूहों की सुव्यवस्था के लिए ग्राम सभाओं के प्रतिनिधियों से समितियाँ बनती थी। उसमे ग्रामणी, सूत, रथकार और हथियार बनाने वाले कारीगर अवश्य सम्मिलित होते थे।

संगठन की दृष्टि से समिति ही आर्यों की सर्वप्रधान संस्था होती थी। सब राजकीय प्रश्नों पर विचार करना, उन पर निर्णय देना और नीति निर्धारित करना समिति के ही अधिकार क्षेत्र की बातें थीं। इसीलिए इसमें एकता के लिए वेद मंत्रो मे प्रार्थना करते समय कहा गया है—'सबलोग

---

४१ ऋ० १०—७१, १०।

एक चित्त होकर एक ही व्रत तथा उद्देश्य रखें।[४४] वैदिक काल की इन संस्थाओं में देशसेवा से संबंध रखने वाले प्रश्न ही संभवतः मुख्य रहते थे इसीलिए मातृभूमि की उपासना में कहा गया है—'जो गांव, जो वन, जो सभाएँ भूमि पर हैं वहाँ तथा जो समस्त ग्रामों की समिति है उसमें हम, मातृभूमि ! तेरे विषय में सुंदर आदरयुक्त भाषण करेंगे।[४५]

इस मंत्र से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि संग्रामाः—समस्त ग्राम समिति में एकत्र होते थे। समिति के संघटन के मुख्य आधार ग्राम ही होते थे इसलिए इस संस्था में ग्रामों के प्रतिनिधियों के एकत्र होने की बात युक्तिसंगत दीखती है। युद्ध कार्य के लिए सब ग्रामों के एकत्र होने के कारण ही संग्राम शब्द का दूसरा अर्थ युद्ध हुआ था। एकत्रित हुए प्रतिनिधियों को अपना मत प्रकट करने की स्वतंत्रता रहती थी। वक्ताओं की यह अभिलाषा रहती थी कि समिति में उपस्थित मंडली को वे अपने प्रिय और सुन्दर भाषण से प्रभावित कर पाएँ। सभा की ही भाँति समिति का भी एक मुखिया वा ईशान होता था जिसे वेद मे एक स्थान पर 'अपने बल में अद्वितीय' कहा गया है।

सभा समिति जैसी संस्थाओं के अध्ययन से स्पष्ट पता चलता है कि जितने भी सुदूर प्राचीन काल का इतिहास हमें

४४. ऋ० १०—१९१, ३।
४५. अ० १२—१, ५६

मिलता है उसमें हमारे देश के राष्ट्रीय जीवन के सब कार्य सार्वजनिक समूहों और संस्थाओं के द्वारा ही हुआ करते थे। ये संस्थाएँ अवश्य ही बहुत विकसित तथा उच्च कोटि की उन्नत और सभ्य समाज की सूचक हैं। इन संस्थाओं के निरंतर अस्तित्व का प्रमाण हमें ऋग्वेद से लेकर छांदोग्य उपनिषद् तक में मिलता है।[६६] एकराज प्रणाली के उद्भव और विकास के समय भी इन संस्थाओं की मर्यादा तथा शक्ति प्रचुर थी। वैदिक काल के अंतिम चरण में जब शासन संबंधी अधिकार राजाओं और सम्राटों में केन्द्रीभूत हो गए उस समय इन संस्थाओं का अवश्य ही कोई महत्व नहीं रह गया। पर जिन महान विचारों का उन्होंने शासन-प्रणाली में समावेश ला दिया था उनकी छाप मिटाई नहीं जा सकी। एकराज प्रणाली के—विशेष कर न्याय संबंधी कार्यों में वैदिक काल की संस्थाओं द्वारा निर्माण की हुई शृंखला की बहुत सी बातें ज्यों की त्यों ही बनी रह गईं।

वैदिक काल की इन संस्थाओं के विकास में अवश्य ही हजारों वर्ष लगे होंगे। इस विकास के सिलसिले में भी हम यही देखते हैं कि आर्यों के बाह्य जीवन का विकास भी उनकी आंतरिक प्रेरणाओं और महान भावनाओं के अनुरूप ही हुआ था।

---

६६ छांदोग्य उपनिषद् का काल जायसवाल के अनुसार ७०० या ८०० ई०—पू० है

वैदिक काल में राजा का चुनाव करना समिति के हाथ में रहता था। इस चुनाव की गिनती उसके सबसे अधिक महत्वपूर्ण कार्यों में होती थी। समिति के ही हाथ में राज्य की वास्तविक बागडोर रहने के कारण उसकी नाराजगी राजा के लिए सबसे बड़ी विपत्ति समझी जाती थी। अथर्ववेद में राजा को उपदेश देते समय स्पष्ट बतला दिया गया है कि प्रजाजन के स्वीकार कर लेने पर ही वह राजा हो सकता है। यदि उनकी सम्मति न हुई तो उससे राज्य छिन जाएगा। इस लिए वह वैसा राज्य करे जिससे सब प्रजाजन संतुष्ट रहें और क्लेश न पाएँ।[१०]

और एक स्थान पर उसे सलाह दी गई है कि जो राजाओं को राजा बनाने वाले राजा हैं, अर्थात् जो उसके चुनाव में मत देने वाले हैं उन सज्जनों—पुरोहित, सेनापति, ग्रामणी आदि राज्य के मुख्य अधिकारी, सूत तथा ग्राम के नेताओं को राजा अपने अनुकूल बनाए रखे। ज्ञानी पुरुषों के अपमान का घोर परिणाम दिखलाते हुए राजा को सूझ दी गई है कि जिस राज्य शासन में ज्ञानी सताए जाते हैं उस राज्यशासन का नाश होता है। वैसे सौ में निन्नानवे देशों के राजाओं का पराभव हुआ है जिन्होने ज्ञानियों को सताया था। इसलिए कोई राजा ज्ञानी को न सताए।

१० अ० ३—४

वैदिक काल में राजा का चुनाव करना समिति के हाथ में रहता था। इस चुनाव की गिनती उसके सबसे अधिक महत्वपूर्ण कार्यों में होती थी। समिति के ही हाथ में राज्य की वास्तविक बागडोर रहने के कारण उसकी नाराजगी राजा के लिए सबसे बड़ी विपत्ति समझी जाती थी। अथर्ववेद में राजा को उपदेश देते समय स्पष्ट बतला दिया गया है कि प्रजाजन के स्वीकार कर लेने पर ही वह राजा हो सकता है। यदि उनकी सम्मति न हुई तो उससे राज्य छिन जाएगा। इस लिए वह वैसा राज्य करे जिससे सब प्रजाजन संतुष्ट रहें और क्लेश न पाएँ।[४७]

और एक स्थान पर उसे सलाह दी गई है कि जो राजाओं को राजा बनाने वाले राजा हैं, अर्थात् जो उसके चुनाव में मत देने वाले हैं उन सज्जनों—पुरोहित, सेनापति, ग्रामणी आदि राज्य के मुख्य अधिकारी, सूत तथा ग्राम के नेताओं को राजा अपने अनुकूल बनाए रखे। ज्ञानी पुरुषों के अपमान का घोर परिणाम दिखलाते हुए राजा को सूझ दी गई है कि जिस राज्य शासन में ज्ञानी सताए जाते हैं उस राज्यशासन का नाश होता है। वैसे सौ में निन्नानवे देशों के राजाओं का पराभव हुआ है जिन्होंने ज्ञानियों को सताया था। इसलिए कोई राजा ज्ञानी को न सताए।

४७. अ० ३–४

राजा का चुनाव

वेदो के एक वर्णन से पता चलता है कि समिति के विकास के सिलसिले में एक समय ऐसा आ गया था जब उसकी सारी शक्ति मन्त्रिमडल मे केन्द्रीभूत हो गई थी। उस मन्त्रिमडल की भी सारी ताकत उसके प्रधान ने अपना ली थी। वह प्रधान प्रजा के कल्याण सबधी सब कार्य करने लगा इसलिए राजा कहलाया। बहुत सभव है 'राजा' की उत्पत्ति इसी ढग से हुई हो।

आरभ मे अवश्य ही 'राजगद्दी' वश परपरा के अनुसार नहीं मिलती थी। प्रजा की राजा के साथ कुछ खास शर्तें रहती थीं। उन शर्तों के योग्य होने और पालन करने की प्रतिज्ञा करने पर ही कोई राज्य करने का अधिकारी गिना जा सकता था। उस योग्यता का निर्णय करना प्रजा के हाथ मे रहता था। दूसरे शब्दो मे—प्रजा ही राजा का चुनाव करती थी।

राजा को हमेशा सत्परामर्श मिलता रहे और उसका शासन स्थिर रह सके इसके लिए उसे समिति द्वारा राज्य शासन संचालित करने के लिए कहा गया है।[४८]

प्रजा के हितों के अनुकूल कार्य न करने पर राजा के निर्वासित कर दिए जाने के भी उदाहरण वैदिक काल में मिलते हैं। पर वह राजा यदि सचेत हो जाए और अपनी भूल सुधार ले तो वह फिर से दुबारा भी राजा चुना जा सकता था।

ऋग्वेद काल में राजा को अपने कर्तव्यों का ज्ञान करा देने के लिए उसे गद्दी पर बैठाने वाले उसे मंत्रों-द्वारा उपदेश देते थे—'तुझे मैंने लाया है। अंदर आ। स्थिर रह। चंचल न हो। तुझे सब प्रजाजनों ने चुना है। तेरे से राष्ट्र न गिरे।' राजा के कर्तव्यों में उसका समिति में उपस्थित होना भी रहता था। यदि वह उपस्थित नहीं होता था तो वह सच्चा राजा नहीं गिना जा सकता था। अभिषेक के समय राजा प्रतिज्ञा करता था—'यदि मैं प्रजा का घात करूँ तो अपने जीवन, सुकृत, संतानादि सबसे वंचित कर दिया जाऊँ।'[४९]

इन सब वर्णनों से यही निष्कर्ष निकलता है कि हमारे

---

४८. अ० ३-४, ७ ; ५-१९, ८ तथा ६ ; ६-८८, ३

४९. ऋ १०-१७३, १ ; 'राजा न सत्य समितीरियानः' ; श० ब्रा० १२, ४-२

वैदिक पूर्वजों के जमाने में राजा पर पूरा नियंत्रण रखा जाता था। उसका मनमाना स्वेच्छाचार नहीं चल सकता था। शतपथ ब्राह्मण में तो स्पष्ट शब्दों में ही कहा गया है कि राजा को संपूर्ण प्रभुत्व नहीं मिलना चाहिए क्योंकि वैसा होने पर उससे प्रजा का बहुत अनर्थ होता है; वैसा राजा प्रजा को ही भोजन बना लेता है, वह राष्ट्र रूपी प्रजा को ही मार डालता है। इसमें संदेह नहीं कि वैदिक काल में ही एकराज शासन प्रणाली का चलन हो गया था, पर फिर भी उस ज़माने के राष्ट्रीय जीवन के सब कार्य सार्वजनिक समूहों और संस्थाओं द्वारा ही संचालित होते थे। प्राचीन आर्यों के जन—उच्च कोटि के आर्य विचारकों की जमात में ऐसा होना ही स्वाभाविक भी था।

प्राचीनता की झाँकी

काल-निरूपण

अपने देश के प्राचीन काल की झाँकी लगाते समय यह बात स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर हो जाती है कि एकराज शासनप्रणाली प्रचलित हो जाने के बाद भी राजा का ही स्थान समाज में अग्रगण्य नहीं था। स्वयं उसका आविर्भाव ही वैदिक समाज के विकास की दिशा में काफी दूर तक अग्रसर हो जाने के बाद हुआ था। इसलिए न तो किसी राजा के गद्दी पर बैठने के समय से हमारे इतिहास का प्रारंभ माना जा सकता है और न उसका वृत्तांत ही हमारे देश की ऐतिहासिक प्रगति का द्योतक हो सकता है।

राजाओं की अपेक्षा ऋषियों का प्रभाव अधिक काल से और अधिक प्रबल रहता आया है। आज तक हिन्दुओं के बीच प्राचीन ऋषियों के नाम पर ही उनका परंपरागत गोत्र भी रहता आया है। राजा विश्वामित्र की भी कहानी काफी प्रसिद्ध है। ब्रह्मबल के निकट पराजित होने पर ही उन्होंने

कहा था—'धिग्बल क्षत्रियबल ब्रह्मतेजोबलं बल—।' इसके बाद उन्होंने कठोर तप से ब्राह्मणत्व प्राप्त किया था और मन्त्रद्रष्टा ऋषि हुए थे।

वैदिक आर्यों का प्राचीनतम, विशेषकर—उनके सप्तसिंधव में सीमित रहने के समय का इतिहास अवश्य ही ऋषियो द्वारा दी गई प्रेरणाओ का ही इतिहास है। उन प्रेरणाओ के विकास का क्रम वा उनका काल निर्धारित करना अवश्य ही बड़ा दुष्कर कार्य है। पर दूसरी ओर, उसके निर्धारित किए बिना शास्त्रीय दृष्टि से इतिहास की भीत भी खड़ी नहीं की जा सकती। यदि बिलकुल ठीक ठीक नही तो मोटामोटी रूप में भी उसका ज्ञान रहना नितात आवश्यक हो जाता है। काल का अदाज रहे बिना हमारे हाथ मे वह पैमाना भी नही रहता जिससे हम अपने ऐतिहासिक विकास की रफ्तार जान सकने मे समर्थ हो सकते हैं।

गत सौ वर्षों में पाश्चात्य विद्वानो ने इस संबध मे अनेक विचार प्रकट किए हैं। पर उनके अनुसार ऋषियो द्वारा दी गई प्रेरणाओ का इतिहास—ऋग्वेद काल ई० पू० १२०० से २४०० वर्ष के पीछे नहीं जाता। इन विचारो का आधार पाश्चात्य भाषा विज्ञान कहा जाता है, पर उस विज्ञान के पीछे कुछ और तरह की भावनाएँ छिपी रहती हैं। शुरू शुरू में तो वे बाइबिल के अनुसार सृष्टि को हुए ही ८५०० वर्ष मानते

थे इसलिए किसी भी मनुष्य के विकास का इतिहास उन्हें इस काल के भीतर ही घटाना पड़ता था। इसीलिए वे हमारे देश के प्राचीन से प्राचीन वृत्तांत के मामले में भी ३००० वर्ष से पीछे जाने के लिए किसी भी हालत में तैयार नहीं थे। पर भूगर्भ शास्त्र की दलीलों ने उनकी ये युक्तियाँ खंडित कर दी हैं। तब से यूरोपीय विद्वानों ने इस संबंध में और कुछ दीवारें खड़ी कर ली हैं। इनमें खासकर मिश्र की सभ्यता है। उसका ही इतिहास—जिसे यूरोपीय विद्वान सबसे प्राचीन मानते और जिसका अपने महादेश को ऋणी मानते आए, चार हजार वर्ष ईसा पूर्व तक ही जाता है। इसलिए उन्हें और किसी दूसरे देश के इतिहास को उससे भी पीछे ले जाए जाने में कठिनाई पड़ती है।

अपने देश के इतिहास की प्राचीनता की परख के लिए निष्पक्ष बन कर और अपने चारो तरफ बिना किसी रूढ़ि की सृष्टि करने वाली दीवारों के खड़े किए विचार करना लाजमी है। इसके लिए प्राचीन अनुश्रुति के उल्लेख से इधर आकर खुदाई अथवा विद्वानों की खोज से जो बहुत सी सामग्री मिली है उसका मिलान करना बहुत उपयोगी हो सकता है। इनके अलावा प्राचीनता की परख में ज्योतिष विज्ञान के सहारे भी सही निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं।

वेद मंत्र तथा ब्राह्मण ग्रंथों में कुछ ऐसे वचन मिलते हैं

जो ज्योतिष गणनाओं के क्षेत्र में आते हैं। उन गणनाओं का निरीक्षण कर—लोकमान्य बालगंगाधर तिलक ने अपना ग्रंथ—'ओरायन' मृगाशीर्ष लिखा था। उनके अनुसार आर्य सभ्यता का पहला युग पूर्व मृगाशीर्ष युग या अदिति युग था। इसका काल ६०००—४००० ई० पू० था। उस काल में परिष्कृत वैदिक सूक्त नहीं थे। दूसरा युग मृगाशीर्ष युग था। यह लगभग ४०००—२५०० ई० पू० तक था। वेद के अनेक सूक्त इसी युग में गाए गए। तीसरा युग कृत्तिका-युग है। इसका आरंभ २५०० ई० पू० से हुआ और १४०० ई० पू० तक रहा।[५०]

अब हम लोकमान्य के इस काल-निरूपण का अनुश्रुति से मिलान करें तथा अन्य काल-निर्धारक आधारों के प्रकाश में उन्हें देखने की कोशिश करें। अनुश्रुति के अनुसार महभारत-युद्ध के छत्तीस वर्ष बाद कृष्ण का निर्वाण और परीक्षित का अभिषेक हुआ था; उसी समय से कलि का प्रारंभ हुआ। परीक्षित के अभिषेक का काल विद्वानों ने १३८८ ई० पू० निश्चय किया है। इस हिसाब से महाभारत काल १४२४ ई० पू० ही प्रमाणित होता है। अनुश्रुति के विद्वान भी महाभारत-पूर्व के समूचे इतिहास को सतयुग, त्रेता और द्वापर नाम के तीन युगों में बाँटते हैं। इस हिसाब

५०. बालगंगाधर तिलक—Orion पृ० २०६-७।

से लोकमान्य का पूर्व-मृगाशीर्ष, मृगाशीर्ष, और कृत्तिका अनुश्रुति का ही क्रमशः सतयुग, त्रेता और द्वापर जान पड़ता है।

और दूसरे प्रमाणों से भी पुष्ट होता है कि हमारा इतिहास ई० पू० ६००० वा उससे भी पहले से आरंभ होता है। मेगास्थनीज़ के वर्णनानुसार हिन्दू लोग चंद्रगुप्त मौर्य से (३२६ ई० पू०) ६०४२ वर्ष पहले से अपने इतिहास का प्रारंभ मानते थे। इस बीच उनके १५३ राजा हो चुके थे; पर इस काल के बीच तीन वार प्रजातंत्र स्थापित हो चुका था।[५१] मेगास्थनीज़ के इस उल्लेख की आजकल के आधार रहित वा खींचातानी से निकाले गए काल-संबंधी अनर्गल कल्पना वा विश्वास से कदापि तुलना नहीं की जा सकती। उसके समय में काल संबंधी विश्वास के लिए कुछ न कुछ आधार अवश्य रहे होंगे, जब तक उसके विरुद्ध पुष्टतर प्रमाण नहीं मिल जाते उसके आधार पर खोज करना ही अधिक युक्ति-संगत दीखता है।

पर हमारे देश का सरकारी दृष्टिकोण तथा उससे संबंध रखते विदेशी तथा देशी विचार और प्रकार के अब भी बने हैं। हमारे देश का इतिहास आरंभ होने का काल-निर्णय करने के संबंध में पार्जीटर जैसे विदेशी विद्वान और उन्हींके

५१. Indica Arrian.

आधार पर कुछ भारतीय विद्वानो ने एक और युक्ति से काम लिया है। उन्होंने सर्ता पर्ता हिसाब लगाया है। इस प्रकार के हिसाब द्वारा पुराणों मे दिए गए भारतयुद्ध के पीछे की राजकीय पीढियो की संख्या और राज्यकाल का हिसाब लगाने तथा कलि का प्रारभ-काल निश्चय करने मे उन्हे अवश्य ही सफलता मिली है। पर भारतयुद्ध के पहले का हिसाब उसी ढग से लगाने पर वे सही नतीजों पर नहीं पहुँच पाए। पुराणो मे दिए गए महाभारत युद्ध के पहले की राजकीय 'नामावली' की सख्या कुल पचानबे अवश्य ही निश्चय की गई है। संभव है, मेगास्थनीज के समय भी वही मानी जाती थी। पर जहाँ तक काल का हिसाब है, मेगास्थनीज के अनुसार वह महाभारत काल के पहले ५००० वर्ष के लग-भग होना चाहिए, वह पार्जीटर के आधार पर १५०० वर्ष ही निकलता है। साढ़े तीन हज़ार वर्ष के इस महान अंतर के अवश्य ही विशेष कारण हैं।

एक कारण पुराणो मे दी गई 'नामावली' पर ग़ौर करते ही स्पष्ट हो जाता है। उस नामावली की सूची के कुछ नाम वशो के हैं, कुछ चक्रवर्ती राजाओ के और कुछ अवश्य ही पीढ़ी के अनुसार दिए गए हैं। अति प्राचीन काल के वर्णन मे ऐसा रहना ही स्वाभाविक है क्योकि जब लेखन-कला का आविर्भाव नहीं हुआ था उस काल के

इतिहास का अवलंब स्मृति ही थी। ऐसी परिस्थिति में, वंश, चक्रवर्ती और साधारण राजा सबके राज्य काल का सर्ता पर्ता हिसाब लगाने की कल्पना ही नहीं की जा सकती। मेगास्थनीज़ जिसका जिक्र करता है वह चौथी शताब्दी ई० पू० की काल-विषयक हमारे पूर्वजों की यह अनुश्रुति कि आर्य सभ्यता का पहला युग महाभारत काल के लगभग ५००० वर्ष पहले आरंभ होता है, बिना प्रमाण छोड़ी नहीं जानी चाहिए।

युगों की विशेषताएँ और उनका विभाग

चौथी शताब्दी ई० पू० में भी हमारे देश के विद्वानों की विवेक शक्ति उस सीमा तक अवश्य ही प्रगति कर चुकी थी जब उनके बीच प्रचलित विश्वास सिर्फ अनर्गल आधार पर स्थान जमा पाने में समर्थ नहीं हो सकते थे। हमारा सिर्फ इतना ही विश्वास हमें उनके उस ज़माने के काल संबंधी विचार की पूरी जाँच करने के लिए हमें बाध्य कर देता है।

इस जाँच के सिलसिले में जब हम आगे बढ़ते हैं तब हमें महाभारत काल के पहले के इतिहास में भी स्थान स्थान पर वैसे अवलंब मिलते हैं जिनके आधार पर हम अनुश्रुति द्वारा बतलाए गए इतिहास की और दूसरे साधनों द्वारा जाँच कर उनकी सत्यता का प्रमाण पा सकते हैं। बिना किसी महान परिवर्तन के घटे युगांतर नहीं होता। उन परिवर्तनों के आधार पर ही अनुश्रुति के विद्वानों ने प्रत्येक युग की खास खास विशेषताएँ निर्धारित कर दी हैं। उन विशेषताओं का

खयाल रखते हुए यदि हम महाभारत-पूर्व पाँच हज़ार वर्ष का इतिहास अध्ययन करें तो हम उसके वैसे खंड अवश्य ही कर सकते हैं और उनका मोटामोटी रूप में काल भी निर्णय कर सकते हैं जिससे हमें उस काल का इतिहास समझ पाने में सहूलियत हो सकती है। युगों के हिसाब से निर्धारित किए गए खंड अवश्य ही समान नहीं हो सकते। प्राचीन विद्वानों के अनुसार उन खंडों की जो हमारे काल के निकट आते हैं अवधि उत्तरोत्तर कम होती गई है। उनके हिसाब से सतयुग की अवधि सबसे अधिक थी; उससे कम त्रेता और उससे भी कम द्वापर की थी।

सतयुग की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि उस समय धर्म का ही शासन चलता था। राजा का उस समय आविर्भाव नहीं हुआ था। दूसरे शब्दों में—उसे हम ऋषियों की प्रेरणाओं का काल कह सकते हैं। उस काल में वैदिक आर्य मुख्यतः सप्तसिंधव में ही निवास करते थे। प्रकृति की उपासना से लेकर 'इन्द्र के पराक्रम' तक का विचार उनके बीच प्रगति कर चुका था। देवासुर-संग्राम भी उसी युग में चला था। अगस्त्य का दक्षिण-प्रयाण इसी काल में हुआ था। इस युग के समाप्त होते होते आर्य द्रविड़ो के भी संपर्क में आ चुके थे, पर अवश्य ही, सुदूर दक्षिण तक उनका प्रसार नहीं हो पाया था। पणि, दस्यु और व्रात्य वैदिक संस्कृति के

वाहक बन सुदूर देशों की ओर निकल चुके थे। ऋग्वेद की भी बहुत सी ऋचाएँ, चाहे वे 'परिष्कृत' भले ही न हुई हों, इस काल तक रची अवश्य जा चुकी थीं। सभा, समिति आदि संस्थाओं का आविर्भाव और विकास भी हो चुका था। संभव है इस युग के अंत में पृथु जैसे एक-दो राजा भी हुए हों, पर उस समय तक वे वास्तविक अर्थ में राजा कहलाने योग्य नहीं हो पाए थे।

सतयुग की समाप्ति तब हुई जब एकराज शासन-प्रणाली प्रचलित हुई। इसी समय से त्रेता युग का आरंभ हुआ। इस युग में वैदिक आर्यों का प्रसार-क्षेत्र हमारे देश के पूरे पूर्वी अंचल और कुछ हद तक विंध्य के दक्षिण में भी हुआ। यही काल चक्रवर्ती राजाओं का था। उनके नायकत्व में ही आर्यों का आधिपत्य-क्षेत्र विस्तृत बना और हमारे देश के बड़े बड़े इलाकों का एकीकरण होता गया। इस त्रेता युग का अंत रामचन्द्र के स्वर्गारोहण वा रामायण काल की समाप्ति के समय हुआ।

इन विशेषताओं पर दृष्टि रखते हुए यदि हम मेगास्थनीज़ और लोकमान्य तिलक द्वारा दिए आधारों पर ६००० ई० पू० से सतयुग मानें तो उसका अंत ४००० ई० पू० के लगभग हुआ। दूसरा युग—त्रेता ४००० ई० पू० से आरंभ हुआ। अनुश्रुति के अनुसार मनु आद्य-त्रेतायुग में तथा रामचन्द्र

चौबीसवें त्रेता में हुए थे। इसमें प्रत्येक युग का यदि हम महाभारत के एक युग-परिमाण के हिसाब से साठ वर्ष का मानें और उसमें रामचन्द्र का अपना काल भी वैसे ही एक युग का जोड़ दें तो त्रेता की कुल अवधि पन्द्रह सौ वर्ष की निकलती है। इस हिसाब से त्रेता २५०० ई० पू० में समाप्त हुआ। उस समय से १४०० ई० पू०—महाभारत के समय तक का ग्यारह सौ वर्ष का काल द्वापर युग का रहा है।

सिंध-संस्कृति की पुकार

किसी देश के प्राचीन इतिहास का काल निर्धारित करने में उस काल विशेष में प्रकृति द्वारा जुटाए जाने वाले साधनों का खयाल रखना बहुत सहायक होता है। उन साधनों का अध्ययन करके भी हम बहुत हद तक सही परिणाम पर पहुँच सकते हैं और ऐतिहासिक महत्त्व की महान घटनाओं के काल का मोटामोटी अंदाज़ लगा सकते हैं।

धातुओं का अध्ययन करते समय विशेषज्ञ इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि उत्तर भारत में प्रस्तर युग खत्म हो जाने पर यहाँ ताम्र युग का उद्भव हुआ था।[५१] भूमि के नीचे से जो

---

५१. Revealing India s past

A Cooperative Record of Archaeological conservation and Exploration in India and Beyond

संपादक—सर जॉन कमिंग। १९३९।

इस ग्रंथ का Excavation and Exploration नामक अध्याय 'सिंध संस्कृति की पुकार' संबंधी सामग्री इकट्ठी करने में विशेष रूप से सहायक हुआ है। धातुओं संबंधी वर्णन के लिए पृ० ८९।

पुराने ज़माने के अस्त्रशस्त्र आदि बंगाल से लेकर बलुचिस्तान तक पाए गए हैं उससे इस सिद्धांत की पुष्टि होती है। पर दक्षिण भारत में विकास का सिलसिला दूसरे ढंग का था। वहाँ तांत्र युग का कोई काल ही नहीं था। वहाँ प्रस्तरयुग ही क्रमशः लौहयुग में परिणत हो गया था। उत्तर और दक्षिण भारत के बीच धातुओं के विकास के इस अंतर से ही हमें अपने देश के प्राचीन इतिहास का मोटामोटी रूप में समय जान लेने का संकेत मिल जाता है।

पुरातत्त्व विभाग ने अब तक हमारे देश में जितने स्थानों पर खुदाई की है उसमें सबसे प्राचीन अवशेष मोहन-जो-दड़ो और हरप्पा में मिले हैं। उनसे यह बात सिद्ध हो गई है कि सिंध और पंजाब प्रांतों में सिन्धु के तट पर कम से कम तीन हज़ार वर्ष पहले वा उससे भी प्राचीन काल से बड़े-बड़े नगर बसे थे, पक्के घर होते थे, कला का विकास हो चुका था और एक विशेष प्रकार की लिपि भी प्रचलित थी।

सिन्धु नदी अपने निचले थार—रेगिस्तान प्रदेश में अकसर अपना रास्ता बदलती रही है। हमें आज भी उस प्रदेश में सिन्धु के उन अनेक पुराने रास्तों के चिन्ह मिलते हैं। उन पुराने रास्तों के साथ ही प्राचीन नगरों का इतिहास जुड़ा हुआ है जो एक समय बहुत समृद्धिशाली थे पर सिन्धु की भयानक बाढ़ से वा उसके वहाँ से हट जाने के कारण निल-

कुल ही लुप्त हो गए हैं। आज हमें खुदाई करने पर सिर्फ उन के भग्नावशेष मिलते हैं। इन अवशेषों की सन् १९२२ से १९२७ के बीच खुदाई करते समय भूगर्भ में से एक के नीचे एक सात बस्तियाँ निकली हैं। सबसे नीचे एक नगर मिला है।

इस खोज ने एक इतनी प्राचीन और उन्नत सभ्यता को प्रकाश में ला दिया है जिससे अब से कुछ वर्ष पहले तक संसार बिलकुल अनभिज्ञ था। प्रागऐतिहासिक काल की पट-भूमिका में जब हम इस संस्कृति का अध्ययन करते हैं तो यह स्वीकार करने के लिए बाध्य होना पड़ता है कि सिंध की यह संस्कृति शाम, मेसोपोटामिया, बाबुल और मिस्र की सभ्यता से कहीं आगे बढ़ी हुई थी।

इतिहासज्ञों को यह हैरत की बात लगती है कि प्राचीन काल में जब दुनियाँ के अधिकांश में असभ्यता का घना अंधकार छाया था और आज की सभ्य गिनी जानेवाली जातियाँ जंगली हालत में थीं उन दिनों सिंध के उन नगरों के निवासी बहुत उच्च कोटि के सभ्य और शीलवान थे। उनके एक नगर मोहन जो-दड़ो की सड़कें सीधी और चौड़ी थीं। उन सड़कों के दोनों किनारों पर पकी हुई ईंटों की इमारतें, महल और आलीशान मंदिर तैयार किए गए थे। सफाई के लिए जमीन के नीचे पटी हुई नालियों की पद्धति थी। उन्हें देख कर यही मालूम होता है कि उस नगर का नक्शा बहुत ही दक्ष इंजी-

नियरो ने तैयार किया होगा। उस नगर में जो बडा मकान खोद कर निकाला गया है उसके वास्तव में ही राजमहल होने का परिचय मिलता है। उस महल मे ऊँचे कमरे तथा खम्भो के सिवा सबसे आश्चर्यजनक उसके बड़े-बड़े स्नानागार हैं जिनकी बहुत सी दीवारें, फर्श और नालियाँ अबतक ज्यों की त्यों सुरक्षित हैं। इनके सिवा भी वहाँ के भग्नावशेष में कई चीजें वैसी मिली हैं जो कला की दृष्टि से बडी ही उच्च कोटि की हैं। एक नर्तकी की काँसे की मूर्ति मिली है जो नृत्य अभिनय दिखला रही है। शौकीन स्त्रियों के उपयोग मे आने वाले विविध प्रकार के गहने और शृंगार की वस्तुएँ मिली हैं। बहुत-सी मुहरें मिली हैं जिन पर लोगों के नाम खुदे हैं। इनसे दस्तावेजो और दूसरे कागजों पर मुहर किया जाता था। बहुतेरी देवी की मूर्तियाँ मिली हैं जिन्हें मातृदेवी का नाम दिया गया है। शिव की भी योगी की मुद्रा में मूर्ति मिली है; उनके तीन मुख हैं, सिंहासन के ऊपर सिद्धासन लिए नासाग्रध्यान लगाए हैं। उनके गले तथा हाथों में बहुत-सी मालाएँ हैं।

ऐसा प्रतीत होता है कि अपनी समृद्धि के समय मोहन-जो-दड़ो समुद्र-तट पर था। उन दिनों दुनिया के विविध देशो से उसका वाणिज्य चलता था। ताम्रपत्र के जो चिन मिले हैं उन्हें देखने से पता चलता है कि आजकल सिन्धु नदी में

कुल ही लुप्त हो गए हैं। आज हमें खुदाई करने पर सिर्फ उन के भग्नावशेष मिलते हैं। इन अवशेषो की सन् १९२२ से १९२७ के बीच खुदाई करते समय भूगर्भ मे से एक के नीचे एक सात बस्तियाँ निकली हैं। सबसे नीचे एक नगर मिला है।

इस खोज ने एक इतनी प्राचीन और उन्नत सभ्यता को प्रकाश मे ला दिया है जिससे अन से कुछ वर्ष पहले तक ससार बिलकुल अनभिज्ञ था। प्राग्ऐतिहासिक काल की पट-भूमिका मे जब हम इस सस्कृति का अध्ययन करते हैं तो यह स्वीकार करने के लिए बाध्य होना पडता है कि सिंध की वह सस्कृति शाम, मेसोपोटामिया, बाबुल और मिस्र की सभ्यता से कहीं आगे बढी हुई थी।

इतिहासज्ञो को यह हैरत की बात लगती है कि प्राचीन काल में जब दुनियाँ के अधिकाश में असभ्यता का घना अंध-कार छाया था और आज की सभ्य गिनी जानेवाली जातियाँ जगली हालत मे थीं उन दिनो सिंध के उन नगरो के निवासी बहुत उच्च कोटि के सभ्य और शीलवान थे। उनके एक नगर मोहन जो-दड़ो की सड़कें सीधी और चौडी थीं। उन सडकों के दोनो किनारों पर पकी हुई ईंटों की इमारतें, महल और आलीशान मदिर तैयार किए गए थे। सफाई के लिए जमीन के नीचे पटी हुई नालियो की पद्धति थी। उन्हें देख कर यही मालूम होता है कि उस नगर का नक्शा बहुत ही दक्ष इंजी-

नियरों ने तैयार किया होगा। उस नगर में जो बड़ा मकान खोद कर निकाला गया है उसके वास्तव में ही राजमहल होने का परिचय मिलता है। उस महल में ऊँचे-कमरे तथा खम्भों के सिवा सबसे आश्चर्यजनक उसके बड़े-बड़े स्नानागार हैं जिनकी बहुत सी दीवारें, फर्श और नालियाँ अबतक ज्यों की त्यों सुरक्षित हैं। इनके सिवा भी वहाँ के भग्नावशेष में कई चीजें वैसी मिली हैं जो कला की दृष्टि से बड़ी ही उच्च कोटि की हैं। एक नर्तकी की काँसे की मूर्ति मिली है जो नृत्य अभिनय दिखला रही है। शौकीन स्त्रियों के उपयोग में आने वाले विविध प्रकार के गहने और शृंगार की वस्तुएँ मिली हैं। बहुत-सी मुहरें मिली हैं जिन पर लोगों के नाम खुदे हैं। इनसे दस्तावेजों और दूसरे कागजों पर मुहर किया जाता था। बहुतेरी देवी की मूर्तियाँ मिली हैं जिन्हें मातृदेवी का नाम दिया गया है। शिव की भी योगी की मुद्रा में मूर्ति मिली है; उनके तीन मुख हैं, सिंहासन के ऊपर सिद्धासन लिए नासाग्रध्यान लगाए हैं। उनके गले तथा हाथों में बहुत-सी मालाएँ हैं।

ऐसा प्रतीत होता है कि अपनी समृद्धि के समय मोहन-जो-दड़ो समुद्र-तट पर था। उन दिनों दुनिया के विविध देशों से उसका वाणिज्य चलता था। ताम्रपत्र के जो चित्र मिले हैं उन्हें देखने से पता चलता है कि आजकल सिन्धु नदी में

जैसा नावें चलती हैं उसी तरह की पुरान ज़माने में भी व्यवहार में लाई जाती थीं। पर इस समय मोहन-जो-दड़ो समुद्र से पचानवे कोस दूर है। धीरे-धीरे सिन्धु नदी ने ही मिट्टी डाल कर इतना समुद्र पाट दिया है। विशेषज्ञों का कहना है कि मोहन जो-दड़ो के निवासियों ने नदी की भयानक बाढ़ से ही परेशान होकर अपना नगर छोड़ दिया। कई बार वे जलप्लावन के बाद अपने पुराने नगर में लौटे और वहाँ के खंडहरों पर इमारतों की नींव डाली, पर अंतिम बार चले जाने पर फिर वहाँ नहीं लौटे। अंदाज़ लगाया जाता है कि तब उन्होंने कोई दूसरा शहर आबाद कर लिया और फिर धीरे-धीरे स्वयं सिंध से लेकर बंगाल तक फैल गए।

सिंध संस्कृति के अवशेष अवश्य ही एक विकसित संस्कृति के द्योतक हैं। उस संस्कृति की तुलना कुछ पाश्चात्य विद्वानों ने सुमेरी संस्कृति से की और उसका नाम 'इंडो-सुमेरी' संस्कृति देना चाहा। पर उसमें बहुत अधिक विवाद उपस्थित होने लगा। तब से उसे 'सिंध-संस्कृति' ही नाम दिया जाने लगा। इस संस्कृति से मिलते-जुलते बहुत से अवशेष सिंध के कई इलाकों के सिवा, बलुचिस्तान और पंजाब के बहुतेरे इलाकों में खुदाई करने पर मिलते हैं। मोंटगोमरी तथा अंबाला जिले के और व्यास काँठे तथा रावी व्यास के

बीच के इलाकों में जितने सिंध-संस्कृति के परिचायक अवशेष ढूँढ़ने के प्रयत्न किए गए हैं उनसे उनके और भी विस्तृत क्षेत्र में पाए जाने का अनुमान किया जाने लगा है। युक्तप्रांत और दक्षिण भारत में अब तक इस प्रकार की खुदाई शुरू ही नहीं की गई है। पर काठियावाड़ के लिमडी रियासत में जो सरसरी ढंग की खुदाई की गई थी तो वहाँ भी सिंध-संस्कृति के उत्तरकालीन अवशेष पाए गए थे। इस से हमें इस संस्कृति के व्यापक क्षेत्र का थोड़ा बहुत अंदाज़ मिलता है।

इस संबंध में खोज करनेवाले विशेषज्ञों का यह भी अनुमान है कि सिंध-संस्कृति की आर्थिक बुनियाद खेती द्वारा ही डाली गई थी। उनका कृषिक्षेत्र बहुत विकसित था और उसी आधार पर उन्होंने अपनी रहन-सहन भी बड़े सुख की बना ली थी। मोहन-जो-दड़ो जैसे इलाकों में नदी की बाढ़ से ज़रूर ही तबाही आती थी, पर वही बाढ़ वहाँ की ज़मीन में नई मिट्टी डाला और उसे सींचा करती थी जिससे प्रचुर उपज होती थी। वर्षा भी आजकल उस प्रदेश में जैसी होती है उससे कहीं अच्छी उस पुराने ज़माने में होती थी।

मोहन-जो-दड़ो के समान ही अवशेष उत्तरी सिंध के हरप्पा नामक स्थान में भी पाए गए हैं। हरप्पा और मोहन-

जो-दड़ो जैसे शहर एक दूसरे से उतने दूर पर बसे थे, फिर भी दोनो एक ही विशेष योजना के आधार पर बसाए गए प्रमाणित हुए हैं। इससे किसी केन्द्रीय-शक्ति के स्थापित रहने का सकेत मिलता है।

पर फिर भी लोहा सिंध-सस्कृति के अवशेषो में पाया नहीं जाता। इससे पता चलता है कि वहाँ की सभ्यता अवश्य ही लौह-युग के बहुत पहले—प्रस्तर और ताम्रयुग के सधिकाल में आरभ हुई थी। खुदाइयो के समय पत्थर और तावे दोनो के औज़ार काफी सख्या मे मिले हैं।

अब, सिंध-सस्कृति से सबध रखता एक बड़ा प्रश्न यह उठता है कि उसका और वैदिक सस्कृति का क्या सबंध है? इसका निर्णय अभी निश्चित रूप से नहीं किया जा सका है; पर प्राप्त सामग्रियो के आधार पर कुछ अनुमान अवश्य ही लगाए जा सकते हैं। यह बात सर्वमान्य है कि वैदिक आर्यों की सभ्यता भी कृषि-प्रधान ही थी। वेद की जो ऋचाएँ अपेक्षाकृत प्राचीन हैं उन मे सुव्यवस्थित नगरो का ज़िक्र नहीं आता। इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि वैदिक सभ्यता प्राचीन है। वह मोहन-जो-दड़ो से कम-से-कम चार-पाँच हज़ार वर्ष अवश्य पुरानी है। धीरे-धीरे उसी का विकास हुआ और बड़े-बड़े नगर बसने लगे। यह बात भी जँचती है कि मोहन-जो-दड़ो के समय तक अवश्य ही आर्यों का प्रसार

सुदूर दक्षिण के द्रविड़ देश तक अवश्य ही नहीं हो पाया था, क्योंकि यदि वैसा हुआ होता तो सिंध-संस्कृति के अवशेषों में लोहा अवश्य ही पाया जाता। भारतवर्ष में लोहे का सब से प्राचीन केन्द्र सुदूर दक्षिण के ताम्रपर्णी काँठे में ही पाया गया है।

लोहे की इस समस्या से अनुश्रुति का मिलान करने पर ज्ञात होता है संभवत: परशुराम ने ही उत्तर भारत में लोहे का आम प्रचलन शुरू किया था, इससे उन का काल ३००० ई० पू० के बाद होने का ही अंदाज़ लगाया जा सकता है। उनके उन्नीसवें त्रेता में होने का ज़िक्र किया गया है। इस हिसाब से भी उन का काल २८६० वर्ष ई० पू० ही निकलता है। सिंध-सभ्यता में एक शासन-प्रणाली प्रचलित रहने के जो प्रमाण मिलते हैं उनसे भी अंदाज़ लगता है कि हमारे देश में चार हज़ार वर्ष ई० पू० के लगभग ही वह प्रणाली आरंभ हो गई थी।

सिंध-संस्कृति पर द्रविड़ सभ्यता से मिलती-जुलती उपासना-प्रणाली आदि के जो अवशेष मिलते हैं उन के आधार पर यही अनुमान किया जा सकता है कि राजपुताने का समुद्र अवश्य ही बहुत पहिले सूख चुका था। दक्षिण भारत के—अधिकतर उसके उत्तरी इलाकों के द्रविड़ उत्तर भारत आने लगे थे, इसलिए उन की छाप भी सिंध-संस्कृति पर पड़े बिना न रही।

इन धारणाओं के आधार पर हम इसी परिणाम पर पहुँचते हैं कि सिंध-सस्कृति वैदिक आर्य और प्राचीन द्रविड़ सस्कृति की एक मिश्रित और उन्ही दोनों की बुनियाद पर विकसित संस्कृति थी। इस सस्कृति के सबध की खोज अभी आरंभ हुई ही कही जा सकती है। यदि वह खोज जारी रही तो अवश्य ही उस से वैदिक सभ्यता के विकास के इतिहास पर बहुत प्रकाश पड़ने की उमीद है। बहुत सभव है, उसी खोज के आधार पर हमारे देश के प्राचीन इतिहास का काल-निर्णय भी ठीक-ठीक किया जा सके।

अब तक जो सामग्री उपलब्ध हुई है उसके आधार पर इतना ही कहा जा सकता है कि सिंध संस्कृति के धार्मिक विश्वास और उसके बाद से आजतक परपरया चले आते हिन्दू जाति के धार्मिक विश्वासों मे बेहद समता और सदृशता पाई जाती है। इस दृष्टि से सिंध-सस्कृति हमारे देश के विकास मे एक विशेष महत्त्व रखती है। एक ऐसे काल म उस का उद्भव हुआ था जहाँ से हमारे देश की प्राचीन आर्य-सस्कृति ने और भी अधिक विकास की दिशा मे एक प्रबल घुमाव लिया था। उस घुमाव के काल के अवशेष ही हमे वाध्य करते हैं कि कम से कम तीन-चार हजार वर्ष ई० पू० के अपने इतिहास का ज्ञान हम वैदिक सस्कृति के ही एक रूप सिंध-सस्कृति कही जाने वाली सस्कृति की धारा से मिलान कर

प्राप्त करें। उसी के आधार पर हमें न सिर्फ अपने देश की सभ्यता के एक प्राचीन स्वरूप का ज्ञान होता है बल्कि यह भी स्पष्ट हो जाता है कि मानव-संस्कृति और सारे विश्व की सभ्यता को गौरवमय शिखर तक पहुँचाने में हमारे देश ने कितना महत्त्वपूर्ण हिस्सा लिया है।

त्रेतायुग का इतिहास

अ—मनु से परशुराम तक

और प्रदेशो मे बड़े पैमाने पर अपना प्रसार आरंभ किया था।[१]

इस प्रसार अथवा उपनिवेशन की भी एक विशेष शैली थी। आर्यों की विशाल सेना अपने किसी राजा के अधीन रह नए नए प्रदेशो पर अधिकार जमाने के लिए नहीं निकली थी। आरभ मे आर्यों की बहुत छोटी-छोटी टोलियाँ नए देश खोजतीं और जगल साफ कर अपने आश्रम और बस्तियाँ बसाती निकली थीं। आगे चल कर वे आश्रम वा बस्तियाँ ही वह आधार बन जाती थी जिनके सहारे छोटे-छोटे आर्य उपनिवेश खड़े हो जाते थे। फिर वे उपनिवेश ही अत मे राज्य के रूप मे परिणत हो जाते थे।

आर्यों की उन टोलियो ने स्वाभाविक ही वैसे रास्ते लिए जो अपेक्षाकृत अधिक सुगम थे। ऐसे रास्ते नदियों के काँठे के साथ-साथ चलने से ही उन्हें मिल सकते थे। आगे चल कर प्राचीन राजपथ भी उन्हीं के आधार पर निर्माण किए गए थे। सप्तसिंधव के बाहर निकलने पर पूर्व दिशा में यमुना-गगा काँठे की ओर का ही रास्ता उन के लिए सब से सुगम था। वे बढे भी उसी दिशा मे। पर कुछ दूर आगे बढ़ने पर—

---

१ प्रारंभिक आर्य राज्यों के वृत्तांत में श्री जयचन्द्र विद्यालंकार लिखित 'भारतीय इतिहास की रूपरेखा' तथा श्री भगवद्दत्त कृत भारतवर्ष का इतिहास से अनेक स्थानों पर उद्धरण लिए गए हैं।

संभव है आजकल के आगरे के पास से, उन के दो दल हो गए। एक सीधे पूर्व दिशा में आगे बढ़ता-बढ़ता आधुनिक मिथिला तक जा पहुँचा। दूसरे ने आगरे के इलाके के पास से ही दक्षिण का रास्ता लिया। यह दल चर्मण्वती (चंबल) और पर्णाशा (बनस) होते हुए श्वभ्रमती (साबरमती) के किनारे जा निकला। यहाँ से ही उन का प्रसार गुजरात काठियावाड़ के हरे-भरे मैदानों में हुआ और वे दक्षिण में नर्मदा-तट तक जा पहुँचे। सप्तसिंधव से निकलने के बाद इस क्रम से ही आर्यों का हमारे देश में फैलना भौगोलिक सिद्धांतों के अनुसार सब से अधिक युक्तिसंगत है। अनुश्रुति-गम्य इतिहास में भी आर्यों के इसी क्रम से फैलने का उल्लेख किया गया है।

उत्तर भारत के प्रारंभिक आर्य राज्य जिनके कारण इस भूप्रदेश का नाम 'आर्यावर्त्त' पड़ा उनका उल्लेख अनुश्रुति ने कहानी के ढंग पर किया है। मनु नाम के कोई राजा वास्तव में हुए थे वा नहीं, अनुश्रुति के सिवा और किसी आधार पर प्रमाणित करना कठिन है। पर इतना निश्चित है कि हमारे देश के राजनैतिक इतिहास आरंभ होने के समय उत्तर भारत में कई राज्य एक ही मानववंश के थे। वे राज्य बहुत दूर-दूर तक के प्रदेशों में फैले हुए थे। शुरू-शुरू के ऐसे कई राज्यों का उल्लेख अनुश्रुति ने किया है।

पहला और सब से प्रमुख राज्य 'मध्य-देश' का था।

इस की राजधानी स्वय मनु की बसाई अयोध्या थी। यही राज्य मानववश वा सूर्यवश की मुख्य शाखा थी। अनुश्रुति ने मनु के वशज इक्ष्वाकु को यहाँ का पहला राजा बतलाया है। उनके बाद इस वश के राजाओ का इक्ष्वाकु वश के नाम से उल्लेख होने लगा। इसी वश मे आगे चलकर दिलीप, रघु और अज हुए। उनके समय म अयोध्या का प्रदेश कोशल कहलाने लगा। मर्यादापुरुषोत्तम रामचन्द्र भी इसी वश में हुए थे। ऐसा प्रसिद्ध वश रहने के ही कारण अनुश्रुति के विद्वानो ने अयोध्या की वशावली सब से अधिक पूर्ण रखने की चेष्टा की है। दूसरे वशो का क्रम निर्धारित करते समय विद्वानो को अयोध्या की वशावली पर ही अधिकतर निर्भर करना पडता है।

दूसरा राज्य उत्तर बिहार के आजकल के तिरहुत का था। इसी राजवश मे बहुत दिनो बाद राजा विशाल ने जन्म लिया था। उन्होने अपने समय मे एक नयी राजधानी वैशाली बसाई थी। हमारे देश मे गण-शासन प्रणाली के युग मे इसी वैशाली नगरी न बहुत प्रसिद्धि पाई थी। नृशसता और जाति-बधन से मुक्त करने वाले दर्शन का कार्यक्षेत्र भी वही इलाका बना था। आज भी मुजफ्फरपुर जिले के बसाढ गाँव मे बौद्ध युग की वैशाली के अवशेष पाए जाते हैं।

तीसरा राज्य गगा और शोण के बीच आधुनिक शाहाबाद

और बघेलखंड मे था। करूप ही यहाँ मानववंश के प्रथम राजा हुए थे इसलिए उन के वंशज कारूप क्षत्रिय कहलाए। यह राज्य भी प्राचीन काल में कारूप देश कहलाता था।

चौथा राज्य आधुनिक गुजरात में था। यहाँ के राजवंश में मानववंश के ही आनर्त्त राजा हुए थे। इसीलिए इस प्रदेश का नाम आनर्त्त पड़ गया था। इस राज्य की राजधानी कुशस्थली (द्वारका) थी। आनर्त्त के वंशजो के काल में इस राज्य का और भी अधिक विस्तार हुआ था। उसी वंश में रेव और रैवत हुए थे। आज भी गिरनार का दूसरा नाम रैवत और नर्मदा का रेवा चलता है।

अनुश्रुति के वर्णनानुसार आरंभ मे ये ही चार राज्य प्रमुख थे। इन के सिवा यमुना के पश्चिमी तट पर एक छोटा राज्य था तथा पंजाब मे भी कई राज्य थे जो उन चार प्रमुख राज्यों के बराबर प्रधानता नही रखते थे। उन चारों मे भी सब से प्रमुख—अयोध्या ने ही अपना विस्तार सर्वप्रथम किया। उसी वंश के निमि ने अयोध्या की सीमा सदानीरा (गंडक) के पार विदेह में एक राज्य स्थापित किया। इसी वंश में मिथि जनक हुए जिन के नाम-से वह राज्य ही आगे चल कर मिथिला और इस वंश के सब राजा 'जनक' कहलाने लगे।

हमारे देश के ये सब प्रारंभिक आर्य राज्य सूर्यवंशी क्षत्रियों के ही थे।

ऐल और साद्युम्न वंश

अनुश्रुतिकारों के अनुसार जब मानव-वंश ने अपना प्रसार आरंभ किया उस के थोड़े ही दिनों बाद आर्यों के ही और एक वंश—ऐल-वंश का आर्यावर्त्त में आविर्भाव हुआ। ऐल संभवत सप्तसिंधव में मानवों की अपेक्षा मध्य हिमालय के अधिक निकट निवास करते थे। उन्हों ने इलावृत्त—कनौर-जौनसार-गढ़वाले-कुमाऊँ के रास्ते गंगा काठे में प्रवेश किया। गंगा के रमणीक पावन परोस ने उन्हें मुग्ध कर दिया। अपनी उपरली दूनों में गंगा की बिखरी धाराओं के अनेक संगम हैं जिन्हें प्रयाग कहते हैं, वैसे ही संगम के किसी एक ठिकाने पर ऐलों ने अपना डेरा डाला। उसके बाद वे गंगा की धारा के साथ-साथ ही नीचे उतरते और पूर्व की ओर अपना प्रसार करते गए। इस वंश के प्रारंभिक इतिहास का गंगा की धारा के साथ बहुत ही घनिष्ट संबंध है। पावनधारा गंगा ने उन्हें मानवी प्रेरणाओं की ओर अग्रसर होने में बहुत सहायता की है।

गंगा-किनारे के किसी एक प्रयाग पर ही ऐल-वंश के प्रथम राजा पुरूरवा ने एक बस्ती बसाई जिसका नाम पड़ा—प्रतिष्ठान। यही उस वंश की पहली राजधानी हुई और यहीं से वे फिर आर्यावर्त्त के सब प्रदेशों में फैल गए। कितने लोगों का खयाल है कि आधुनिक प्रयाग के सामने झूसी के पास का पीहन गाँव ही पहले प्रतिष्ठान था।

पुरूरवा को अनुश्रुति ने सूर्यवंशी इक्ष्वाकु का समकालीन बतलाया है। ये ही राजा पुरूरवा कई वेदमंत्रों के ऋषि भी थे। यह बात यहाँ विशेष ध्यान रखने की है कि ऋग्वेद के केवल उन्हीं अंशो में पुरूरवा के मंत्र हैं जो अपेक्षाकृत बाद के समझे जाते हैं। इससे हम यह अभिप्राय निकाल सकते हैं कि पुरूरवा ऋग्वेदकाल के अंत में और मनु से तीसरी पीढ़ी में हुए थे। उसी समय के लगभग सप्तसिंधव के बाहर उत्तर भारत के प्रारंभिक आर्य राज्य स्थापित होने लगे थे।

पुरूरवा का वंश ही आगे चल कर चंद्रवंश कहलाने लगा। इस वंश ने शीघ्र ही बड़ी उन्नति की। उनका मुख्य केन्द्र प्रतिष्ठान ही रहा, पर वहाँ से ही गंगा की धारा के साथ साथ ऊपर और नीचे दोनों ही दिशाओं में वे एक ही समय प्रसार करने लगे। उनकी एक शाखा ने ऊपर की ओर गंगातट पर ही कान्यकुब्ज (कन्नौज) मे एक नया राज्य स्थापित किया। दूसरी शाखा ने नीचे की ओर गंगा-किनारे ही

वाराणसी में एक और राज्य स्थापित किया। यही राज्य आगे चल कर ऐलवंशज राजा काश के नाम से काशी कहलाने लगा।

ऐल-वंश में शीघ्र ही एक बड़े विजेता ययाति ने जन्म लिया। उसने प्रतिष्ठान के पश्चिम, दक्खिन और दक्खिन-पूर्व के अनेक राज्यों पर अपना अधिकार जमाया। उसके समय में उसका राज्य-विस्तार उत्तर-पश्चिम दिशा में सरस्वती नदी तक स्थापित हो गया। दक्खिन दिशा में भी यमुना-गंगा में आकर मिलने वाली नदियों के काँठों के सुदूर प्रदेश उनके अधिकार में आ गए। यह विस्तार अवश्य ही कुछ दूर तक सूर्यवंश के आधीन राज्यों पर दखल जमा पूर्ण किया गया था। ययाति के रथ का चक्र अनेक राज्यों में निःशंक घूम सकता था, इसी कारण उसे 'चक्रवर्ती' कहा गया। आर्यावर्त्त का प्रथम चक्रवर्ती राजा होने का श्रेय ययाति को ही प्राप्त हुआ था।

पर उस प्राचीन काल में, यातायात के साधनों के अभाव के कारण हो, अथवा कोई और कारण रहे हों, ययाति का राज्य-विस्तार उसके जीवनकाल के बाद टिका नहीं रहा। उस राज्य के कई टुकड़े हो गए। अनुश्रुति ने इस साम्राज्य के ययाति के पाँच पुत्र—यदु, तुर्वसु, द्रुह्यु, अनु और पुरु के बीच बँट जाने का उल्लेख किया है। आगे चल कर इन्हीं नामों से

चंद्रवंशी क्षत्रियों के वंश चल पड़े और उनके राज्य भी आर्यावर्त्त के विभिन्न प्रदेशों में स्थापित हो गए।

ऐलों का पहला राज्य प्रतिष्ठान पौरवों (पुरु से) के हाथ रहा। अयोध्या से पश्चिम के प्रदेश पर आनवों (अनु से) ने अधिकार किया। यमुना के पश्चिम द्रुह्यु रहे। प्रतिष्ठान के दक्षिण-पूर्व सूर्यवंशी काशी का प्रदेश [illegible] के हाथ [illegible] दक्षिण-दिशा की ओर [illegible] यादवों (यदु से) के अधिकार में रहे। आगे चलकर इन यादवों के बहुत प्रसिद्ध [illegible] अपना राज्य स्थापित कर [illegible]। इनकी ही एक शाखा हैहयवंश थी जिसने विंध्याचल के इलाकों में जाकर अपना आधिपत्य जमाया।

मानव और ऐलों के सिवा एक तीसरे वंश–सौद्युम्न का भी पुराण जिक्र करते हैं। उन का निवासस्थान पूर्वी देश बतलाया गया है। उन का संबंध मनु के साथ जोड़े जाने से यह अभिप्राय निकलता है कि वह भी आर्यों का ही और एक वंश रहा होगा। पर उस के संबंध मे विशेष साम ग्री प्राप्त नहीं है। उस के वर्णन से सिर्फ यही बात पुष्ट होती है कि आर्यों के प्रसार के काल मे पहले पहल उन के बहुत से छोटे-छोटे राज्य स्थापित हुए थे।

यह काल सप्तसिंधव के आर्यों के उत्तर भारत के विभिन्न

प्रदेशोंमें प्रवेश करते जाने और वहाँ पर अपना उपनिवेश स्थापित करते जाने का रहा है। पहले पहल जिस वंश ने जिस स्थान पर अपना उपनिवेश बसाया आगे चल कर वही उस वंश के नाम से प्रारंभिक आर्यराज्य स्थापित हो गए। इस काल के लिए यह कोई अनिवार्य बात नहीं दीखती कि उस राज्य का सब जगह शुरू से ही कोई न कोई राजा होता ही हो। संभव है बहुत-से स्थानों पर सप्तसिंधव की विकसित सभा—समिति का ही शासन चलता हो। इस सिद्धांत की पुष्टि इस बात से होती है कि सप्तसिंधव के आर्य किसी राजा के अधीन नए-नए प्रदेशों पर दख़ल जमाने के लिए नहीं निकले थे। पर अनुश्रुति ने उन नए स्थानों पर जिन 'वंशों' का दख़ल हुआ उन्हें ही बहुधा 'राजा' के अधीन आ जाने की तरह व्यवहार किया है।

सारे उत्तर भारत में छोटे छोटे-राज्यों के प्रस्थापित हो जाने पर एक काल अवश्य ऐसा आया जब एक राज-शासन-प्रणाली हमारे देश मे पूर्णरूप से प्रस्थापित हो गई। पर वह काल साथ ही साथ प्रारम्भिक आर्यराज्यों के 'एकीकरण' का था। उस एकीकरण के कारण ही उत्तर भारत आर्यावर्त में परिणत हो गया।

राज्यों का प्रथम एकीकरण

सिर्फ 'मत्स्य-न्याय' का यह सिद्धांत कि बड़े राज्यों का छोटे राज्यो को हड़प जाना स्वाभाविक था उत्तर भारत के प्रारंभिक आर्य-राज्यों के एकीकरण पर पूरा पूरा प्रकाश नही डाल पाता। यह बात अवश्य ही निर्विवाद है 'कि प्रारंभिक आर्य-राज्यों के बीच बड़ा ही घना संघर्ष चलता रहा है। उन के बाद ही हमारे देश में जिन राज्यो की स्थापना हुई है उन का विस्तार चाहे जितना भी फैला क्यो न रहा हो, वे अधिक काल तक टिकाऊ नहीं रह सके। उस विस्तृत राज्य की स्थापना करनेवाले महान विजेता चक्रवर्ती राजा की मृत्यु के बाद ही उस राज्य की विशृंखलता आरंभ हो जाती थी। जो छोटे-छोटे राज्य उस के महान साम्राज्य के अंतर्गत आ गए रहते वे पुनः स्वतंत्र हो जाते थे। यही सिलसिला हम अपने देश के इतिहास में बारबार चलता देखते हैं।

ऐसे काल के अपने देश के राजनैतिक इतिहास की

तुलना हम सदा तूफान भरे समुद्र से कर सकते हैं। छोटे-छोटे राज्य छोटी छोटी लहरों की भाँति उगते हैं, उनमें बड़ी-बड़ी लहरें—बड़े-बड़े राज्य तैयार होते हैं, वे लहरें टकराती हैं—राज्य विशृंखल होता है, फिर वे छोटी लहरों—छोटे-छोटे राज्यो के रूप में परिणत हो जाते हैं। इन मौको पर के छोटे से छोटे राज्यो की प्राणशक्ति का चमत्कार देख हमें दग रह जाना पडता है। उनकी वह शक्ति भी हमारे साधारण विकास मे कम सहायक नही होती।-

इन राजनैतिक लहरों का कारण एकमात्र मत्स्यन्याय का सिद्धात ही दिखाई नहीं देता। कुछ इतिहासज्ञों का कथन है कि इसके पीछे महत्त्वाकाक्षी राजाओ की अपने को महान् प्रमाणित करने की प्रेरणा रही है। उस प्रेरणा के पीछे अपना आर्थिक हित साधने की प्रवृत्ति उन विजेताओ की नही रहती थी। वे सिर्फ अपने पडोसी राजा से अपने को 'चक्रवर्त्ती' स्वीकार करा कर ही सतुष्ट हो जाया करते थे।

अपने देश का इतिहास भलीभाँति अध्ययन करने पर 'विजेताओं की महत्त्वाकाक्षा' का सिद्धात भी टिक नहीं पाता। सभव है, दो-चार उदाहरणों मे वह भाव ही प्रधान रूप से काम करता दिखाई दे, पर हमारे देश के हजारो वर्ष के इतिहास में उस महत्त्वाकाक्षा के पीछे ही अपने यहाँ की सब प्रमुख राजनैतिक घटनाएँ घटी हो, यह प्रमाणित नहीं होता। इन

सब घटनाओं और इतिहास की अधिकांश लड़ाइयों को सिर्फ राजाओं की 'खामखयाली' का इतिहास कह देना हमारे ऐतिहासिक अज्ञान का परिचायक होगा। हमारे देश में राजाओ का महत्त्व भी वैदिक काल से ही कभी भी सर्वोपरि नहीं रहा।

उन सब ऐतिहासिक घटनाओ के पीछे जो प्रेरणा-शक्ति रही है उस का ठीक-ठीक पता लगाने के लिए,प्राचीन आर्यों के जीवन और उनकी विचार-प्रणाली पर विशेष रूप से ध्यान देना आवश्यक है। आर्यों को शुरू से ही अपनी संस्कृति का बहुत अधिक समुचित अभिमान रहता आया है। उनके जीवन में भी अद्भुत गति रहती आई है। सप्तसिंधव से दूर—आर्यावर्त्त के अपने नए उपनिवेश में 'अकेले' पड़ जाने पर उन्हें अपने जीवन का स्रोत मंद पड़ता सा अनुभव हुआ होगा। जिन जातियों का जंगल, पहाड़ वा अपने निजी लगाए गए घिरावे के भीतर रह जाने के कारण बाह्यजगत से संपर्क विच्छिन्न हो गया उनका विकास वास्तव में ही रुक गया है। आर्यों का इस विकास के अवरुद्ध हो जाने से डरना स्वाभाविक था। वे अपने पड़ोसी आर्य-राज्यों के संपर्क में रहना बहुत जरूरी समझते थे, इसी से उन के विकास का क्रम भी जारी रहता था। आरंभ में एकीकरण का दूसरा कारण यह भी रहा होगा कि आर्येतर जातियो से अथवा

अपने विपक्षी आर्यवशो से मुकाबला होने पर छोटे-छोटे राज्यो का अपने निजी बल पर टिक पाना सभव नहीं रहा होगा। इस ख़याल से भी उन राज्यों का एक सूत्र में बँध जाना आवश्यक था।

पर साथ ही एक 'राजा' के अधीन आ जाने पर छोटे-छोटे राज्यो को अपने 'व्यक्तिगत' स्वातत्र्य में कमी आ गई दीखती थी, इसलिए जब तक इस स्वातत्र्य की रक्षा करनेवाली कोई शासन-प्रणाली विकास न कर जाए वे एक राज मे रहने से हिचकते थे। इन्हीं विचारो के परिणाम-स्वरूप हम उत्तर भारत के प्रारभिक आर्य-राज्यो मे सघर्ष-उद्भव होता देखते है। उस सघर्ष के बावजूद भी वे एकीकरण की दिशा में ही खिंचते गए हैं क्योंकि उस दिशा मे खींच ले जानेवाली प्रेरणाओ का जोर उसमे बाधक शक्तियो की अपेक्षा अधिक था।

अपने देश के इतिहास मे एकीकरण की प्रवृत्ति हम सर्वप्रथम चद्रवश के यादवों मे जागृत होता देखते हैं। इस वश का सब से पहला पराक्रमी राजा शशबिन्दु हुआ है। उसके समय तक उत्तर भारत के प्रारभिक राज्यो के स्थापित हुए काफी समय व्यतीत हो चुका था। उन्होंने इस काल मे अपनी प्रगति और विस्तार भी काफी दूर तक कर लिया था। शशबिन्दु ने सर्वप्रथम अपने ही समान चद्रवश के ही अपने

पड़ोसी द्रुह्यु और पौरवों का राज्य अपने राज्य में मिला लिया। यही आर्य-राज्यों के एकीकरण की नींव थी।

शशविन्दु की लड़की का विवाह अयोध्या के सूर्यवंशी राजा मान्धाता से हुआ। इस विवाह के कारण सूर्य और चन्द्रवंश के राज्यों का एकीकरण आरंभ हुआ। चद्रवंशियों के अधिकार का पौरव और कन्नौज का राज्य मान्धाता ने अपने अधीन किया। द्रुह्यु और आनवों के राज्य पर भी उसने दखल जमाया। यादवों के साथ संबंध रहने के कारण उनके राज्य पर उसने चढ़ाई नहीं की। पर यादवों से भी दक्षिण जिन हैहय लोगों का आधिपत्य था उसे मान्धाता के पुत्रों ने अवश्य ही अपने राज्य में मिलाया। कहा जाता है कि मान्धाता की पुत्रवधू का नाम नर्मदा था और उसी कारण रेवा नदी का नाम नर्मदा पड़ गया। नर्मदा नदी के बीच एक टापू पर बसे एक नगर का नाम भी मान्धाता पड़ा। इससे इतना अवश्य प्रमाणित होता है कि मान्धाता का राज्य-विस्तार दक्षिण में नर्मदा नदी तक हो गया था। पश्चिम मे वह विस्तार पंजाब की सीमा तक था। गंगा-यमुना काँठे के प्रदेश के साथ-साथ कन्नौज, अयोध्या और प्रतिष्ठान के राज्य उसके ही अधीन थे। चारो तरफ दिग्विजय कर वह चक्रवर्ती राजा तथा आर्यावर्त्त का प्रथम सम्राट् हुआ था। उसके राज्य-

अपने विपक्षी आर्यवशों से मुकाबला होने पर छोटे-छोटे राज्यों का अपने निजी बल पर टिक पाना सभव नही रहा होगा। इस खयाल से भी उन राज्यो का एक सूत्र मे बँध जाना आवश्यक था।

पर साथ ही एक 'राजा' के अधीन आ जाने पर छोटे-छोटे राज्यों को अपने 'व्यक्तिगत' स्वातत्र्य में कमी आ गई दीखती थी, इसलिए जब तक इस स्वातत्र्य की रक्षा करनेवाली कोई शासन-प्रणाली विकास न कर जाए वे एक राज मे रहने से हिचकते थे। इन्ही विचारो के परिणाम-स्वरूप हम उत्तर भारत के प्रारभिक आर्य-राज्यो मे सघर्ष-उद्भव होता देखते हैं। उस सघर्ष के बावजूद भी वे एकीकरण की दिशा मे ही खिचते गए हैं क्योंकि उस दिशा मे खींच ले जानेवाली प्रेरणाओ का जोर उसमे बाधक शक्तियों की अपेक्षा अधिक था।

अपने देश के इतिहास म एकीकरण की प्रवृत्ति हम सर्वप्रथम चद्रवश के यादवो मे जागृत होता देखते हैं। इस वश का सब से पहला पराक्रमी राजा शशबिन्दु हुआ है। उसके समय तक उत्तर भारत के प्रारभिक राज्यो के स्थापित हुए काफी समय व्यतीत हो चुका था। उन्होने इस काल मे अपनी प्रगति और विस्तार भी काफी दूर तक कर लिया था। शशबिन्दु ने सर्वप्रथम अपने ही समान चद्रवश के ही अपने

पड़ोसी द्रुह्यु और पौरवों का राज्य अपने राज्य में मिला लिया। यही आर्य-राज्यों के एकीकरण की नींव थी।

शशबिन्दु की लड़की का विवाह अयोध्या के सूर्यवंशी राजा मान्धाता से हुआ। इस विवाह के कारण सूर्य और चन्द्रवंश के राज्यों का एकीकरण आरंभ हुआ। चद्रवंशियों के अधिकार का पौरव और कन्नौज का राज्य मान्धाता ने अपने अधीन किया। द्रुह्यु और आनवों के राज्य पर भी उसने दखल जमाया। यादवों के साथ संवंध रहने के कारण उनके राज्य पर उसने चढ़ाई नही की। पर यादवों से भी दक्षिण जिन हैहय लोगों का आधिपत्य था उसे मान्धाता के पुत्रों ने अवश्य ही अपने राज्य में मिलाया। कहा जाता है कि मान्धाता की पुत्रवधू का नाम नर्मदा था और उसी कारण रेवा नदी का नाम नर्मदा पड़ गया। नर्मदा नदी के बीच एक टापू पर बसे एक नगर का नाम भी मान्धाता पड़ा। इससे इतना अवश्य प्रमाणित होता है कि मान्धाता का राज्य-विस्तार दक्षिण में नर्मदा नदी तक हो गया था। पश्चिम में वह विस्तार पंजाब की सीमा तक था। गंगा-यमुना कांठे के प्रदेश के साथ-साथ कन्नौज, अयोध्या और प्रतिष्ठान के राज्य उसके ही अधीन थे। चारो तरफ दिग्विजय कर वह चक्रवर्ती राजा तथा आर्यावर्त्त का प्रथम सम्राट् हुआ था। उसके राज्य-

दक्षिण की ओर शूर्पारक प्रदेश या कोकण की ओर आगे बढ़े। अपने इस प्रसार के समय वे अवश्य ही दक्षिण के द्रविड़ों के घनिष्ट संपर्क में आए होंगे। इसी संपर्क ने उनका लोहे से भी परिचय कराया होगा। वे लोहे के अस्त्र उत्तर भारत में प्रचलित तांबे के अस्त्रों से अवश्य ही अधिक उपयोगी और कारगर प्रमाणित हुए होंगे। अस्त्रविद्या में लोहा अपना लेने के बाद उनका अपने आगे के विजय-अभियानों में अधिक सफलता प्राप्त करते जाना अनिवार्य था।

इस काल में हम नर्मदा काँठे में बसे आर्यों को वास्तव में ही विजय-अभियान में निकलता देखते हैं। वहाँ के हैहय-वंश का उत्तर भारत पर का आक्रमण इसी काल में आरंभ हो जाता है। यह आक्रमण उस वंश के कार्त्तवीर्य अर्जुन और उनके ही समकालीन परशुराम के जमाने में अपनी चरम सीमा पर पहुँच गया। वायुपुराण ने इन जामदग्नेय परशुराम के उन्नीसवें त्रेतायुग में होने का जिक्र किया है। इससे ज्ञात होता है कि ये मान्धाता से २४० वर्ष बाद हुए होंगे। इससे इनका काल २८६० ई० पू० के आस-पास मालूम पड़ता है।

परशुराम के काल के बाद हैहयों के उत्तर भारत पर के आक्रमण धीमे पड़ने लगे, पर वे अयोध्या के इक्ष्वाकुवंशी राजा सगर के काल तक चलते अवश्य रहे। इस अरसे में

दक्षिणी आर्यों ने उत्तर भारत की युद्धप्रणाली में क्रान्तिकारी परिवर्त्तन ला दिए। इन परिवर्त्तनों के आधार पर ही आर्यावर्त्त में विकास का जो सिलसिला आरंभ हुआ वही लगभग २५०० वर्ष ई० पू० के रामायण-काल में हमारे देश का इतिहास आदर्श की चोटी तक पहुँचा देने में समर्थ हुआ।

माहिष्मती पर पुनः अधिकार जमा लेने के बाद हैहयवंश ने पूर्व दिशा में काशी को अपना लक्ष्य बना अभियान आरंभ किया। इसकी पहली लहर में ही हैहयवंशीय राजा भद्रश्रेण्य ने अपनी विजय का विस्तार काशी राज्य तक कर लिया। पर स्वयं काशी पर की उसकी यह विजय अल्पस्थायी रही। कुछ दिनों बाद ही काशीराज दिवोदास प्रथम ने भद्रश्रेण्य के वंशजों से अपना राज्य वापस ले लिया। पर दिवोदास को भी तुरत ही वहाँ से अपना कब्ज़ा हटाना पड़ा। इस समय दक्षिण की आर्येतर जातियों की भी विजय की एक लहर उठ खड़ी हुई थी। उसी लहर में क्षेमक राक्षस ने काशी पर अधिकार जमा लिया। पर इस अरसे में हैहय पुनः संगठित हो चुके थे, उनके राजा दुर्दम ने क्षेमक को हटाकर काशी पर पुनः अपना अधिकार जमा लिया।

इस काल में दक्षिण की आक्रमणकारी लहरों में हम आर्य और 'राक्षस' दोनों को ही देखते हैं। पर राक्षसों की

विजय उत्तर भारत में बहुत सीमित रही। उनकी सबसे बड़ी विजय गुजरात की ही गिनी जा सकती है। यहाँ के मानव-वंशीय आर्यों के राज्य तथा उनकी राजधानी कुशस्थली (द्वारका) पर पुण्यजन राक्षस इसी समय अपना अधिकार जमाने में समर्थ हुए। वहाँ के पराजित मानव-वंशीय क्षत्रियों का मुख्य भाग हैहयों से आ मिला और उन्हीं में उस समय से एक शाखा बन गई।

दक्षिण भारत के आर्यों में इस समय हम क्षत्रियों के साथ साथ ब्राह्मणों को भी युद्ध-विद्या से काफी दिलचस्पी रखता देखते हैं। नर्मदा प्रदेश के रहनेवाले ब्राह्मण भार्गव थे। ऋग्वेद से ज्ञात होता है कि वे लोग रथ भी बनाया करते थे। भार्गव ही लोग हैहयवंशीय राजाओं के पुरोहित हुआ करते थे। पर कार्तवीर्य अर्जुन के राज्य-काल में उसका अपने पुरोहितों से झगड़ा हो गया। इस कारण भार्गव लोगों को उत्तर की ओर भाग जाना पड़ा। उनके मुखिया और्व ऋषि मध्यदेश में आकर बस गए। वहीं उन्होंने कन्नौज की राजकन्या सत्यवती से विवाह किया। उसी सत्यवती के भाई विश्वरथ थे जो आगे चलकर प्रसिद्ध ऋषि विश्वामित्र हुए। और्व ऋषि के पुत्र जमदग्नि हुए जिनका विवाह अयोध्या के राजवंश में हुआ। उनके ही पुत्र

अपने काल के सबसे प्रसिद्ध योद्धा तथा अपना मुख्य अस्त्र परशु = कुल्हाड़ा बनाने वाले परशुराम हुए। भार्गवों के उत्तर भारत आने और वहाँ के कन्नौज अयोध्या जैसे मुख्य राजवंशों से सम्बन्ध स्थापित हो जाने का बहुत बड़ा परिणाम निकला। दक्षिण में युद्ध-विद्या का जितना विकास हुआ था उससे भार्गव अवश्य ही परिचित थे, उनके ही द्वारा उस विकसित विद्या का सारे उत्तर भारत में सर्वप्रथम प्रचार भी हुआ। परशुराम के अस्त्र और उनकी विद्या को ही हम उस युग की युद्ध-विद्या का प्रतीक मान सकते हैं। बहुत सम्भव है उन्होंने ही उत्तर भारत में लोहे के शस्त्रों का आम चलन सर्वप्रथम आरम्भ किया। उनकी यही देन आगे चलकर उत्तर भारत के लिये युग-परिवर्तनकारी साबित हुई है। जब तक उत्तर भारत में लोहे का आम चलन स्थापित नहीं हो गया, वहाँ के योद्धाओं का दक्षिणी आर्यों के सामने टिक पाना असम्भव-सा ही हो रहा था। इसी बल पर हैहय-वंशियों ने अपने राजा कार्त्तवीर्य अर्जुन के समय अपना सब से सबल उत्तर-अभियान सफलतापूर्वक पूरा किया। उनका राज्य-विस्तार इस समय नर्मदा से लेकर हिमालय की तराई तक स्थापित हो गया। दक्षिण में भी उनका कुछ दूर तक विस्तार हुआ था, इसका संकेत

इस कथा से मिलता है कि कार्त्तवीर्य अर्जुन ने दक्षिण के एक रावण-राजा को कुछ समय तक माहिष्मती में कैद कर रखा था। उस ज़माने के ख़याल से इस विशाल राज्य-विस्तार पर दृष्टि डालते समय पता चलता है कि ई० पू० उनतीसवीं शताब्दी में हमारे देश का सब से प्रतापी सम्राट् कार्त्तवीर्य अर्जुन ही था। उसका आक्रमण अयोध्या-राज्य की सीमा तक पहुँच चुका था।

उत्तर भारत में प्रबल अयोध्या का राज्य इस समय बड़े संकट में पड़ा था। पुराणों के अनुसार इस संकट की जड़ में पुरोहितों से सम्बन्ध रखता झगड़ा था। ब्रह्म-पुराण में इस सम्बन्ध में दी गई कहानी में उस काल की विशेषताओं का भी रोचक वर्णन है। उसमें कहा गया है कि मान्धाता के वंश में इस समय त्रयारुणि राजा हुए। उनके पुत्र सत्यव्रत त्रिशंकु थे। पिता ने एक दोष के कारण पुत्र का परित्याग किया। पुत्र ने उनसे पूछा—'मैं कहाँ जाऊँ?' पिता ने उत्तर दिया—'वन में जाकर चांडालों के साथ वास करो।' उस मौके पर पुरोहित वशिष्ठ सब देखते रहे, पर कुछ बोले नहीं। जब राज्य अराजक हुआ तो वे ही वशिष्ठ राज्य-रक्षक भी हुए। इसी बीच बारह-वर्ष-व्यापी अकाल पड़ा। विश्वामित्र उन दिनों परिवार से दूर तपस्या में लगे थे। उनकी सतानें दुर्भिक्ष से मरने-मरने को आईं।

उस समय सत्यव्रत ने ही उन्हें बचाया। अभाव के कारण ही वा द्वेषवश, सत्यव्रत ने एक दिन वशिष्ठ की गाय मारकर ही अपना और विश्वामित्र के परिवार का भोजन जुटाया। इसी पर वशिष्ठ ने सत्यव्रत को शाप दिया। कृतज्ञ विश्वामित्र ने इसी समय उठकर सत्यव्रत की सहायता की। जब सत्यव्रत ने अपने पिता का राज्य सँभाला और वशिष्ठ ने उनका पौरोहित्य छोड़ दिया तो उस शून्य स्थान पर विश्वामित्र ही वृत हुए।[१]

इस कहानी से इस बात की पुष्टि अवश्य होती है कि अयोध्या-राज्य के संकट के समय विश्वामित्र ने उस राज्य की सहायता की थी। उनकी वह सहायता कार्तवीर्य अर्जुन के आक्रमण के समय भी अवश्य ही अयोध्या को प्राप्त थी।

उधर परशुराम भी कार्त्तवीर्य अर्जुन से अपने पूर्वजों को किए अपमान का बदला लेने के लिए तुले हुए थे। उन्होंने अर्जुन के विरुद्ध कान्यकुब्ज और अयोध्या दोनों से ही सहायता ली। कार्त्तवीर्य अर्जुन परास्त हुआ, परशुराम ने ही उसका वध भी कर डाला।

इस पराजय ने हैहयवंश के उत्तर-भारत-विजय की गति रोक दी। इसी समय से परशुराम द्वारा सिखलाए अस्त्रों का व्यवहार उनके द्वारा दक्षिण के भार्गवों की युद्ध-विद्या का उपयोग कर उत्तर भारत दक्षिण के हमलों के अपने बचाव के

१ क्षितिमोहन सेन भारतवर्ष में जातिभेद, पृ० २६ ३०।

सिलसिले में अपनी मजबूती दृढ़ करने लगा। यहीं से उत्तर भारत के पुनः प्रधानता प्राप्त करने की नींव पड़ी।

स्वयं परशुराम अपना लक्ष्य पूरा हुआ समझ दक्षिण-महासागर के तट की ओर चले गए। उन्होंने अपना शेष जीवन कहाँ बिताया, इस संबंध में बहुत-सी जगहों के नाम लिए जाते हैं। कोई उसे शूर्पारक देश (कोंकण) में, कोई केरल और कोई महेन्द्रगिरि में बतलाते हैं। पर जितने भी प्रदेशों के नाम लिए जाते हैं वे सब दक्षिण भारत के ही हैं। कल्पना ने परशुराम के वृत्तांत पर जो रंग चढ़ा दिया है उससे इस बात की संभावना समझी जा सकती है कि अपने शेष जीवन में परशुराम ने आर्यराज्यों के दक्षिण की ओर का प्रसारक्षेत्र विस्तृत बनाने में सहयोग दिया था। यदि यह ठीक हो तो मानना पड़ेगा कि उस काल के न सिर्फ उत्तर-भारत के बल्कि दक्षिण के भी इतिहासनिर्माण में परशुराम के जीवन का बहुत बड़ा प्रभाव रहा है। उत्तर तथा दक्षिणी आर्य उपनिवेशों के संगम-काल में ही वे हुए थे और उस संगम के महान कार्य में उन्होंने बहुत बड़ा भाग लिया था। दक्षिण की लहरों का उत्तर की लहरों से संयोग कराने तथा उस आधार पर महान्-आर्यावर्त्त का ढाँचा तैयार कर देने का श्रेय सबसे अधिक परशुराम को ही दिया जा सकता है।

स्वातंत्र्य-प्रेम और विस्तार

मान्धाता के काल में ही आर्यों की कुछ शाखाओं के ऐसे कार्य हुए जिनसे उनके अटूट स्वातंत्र्य-प्रेम का परिचय मिलता है। अपनी स्वाधीनता कायम रखे रहने तथा राजनैतिक सत्ता का अस्तित्व बनाए रखने के लिए उन्होंने अपने देश तथा निवास-स्थान तक का त्याग कर दिया। उन आर्यों की इस प्रेरणा और कीर्ति का ही आगे चल कर यह प्रभाव पड़ा कि हिन्दू राजनीति का यह एक निश्चित सिद्धांत ही बन गया कि निवास-स्थान की अपेक्षा स्वतंत्रता का महत्व कहीं अधिक है, निवास-स्थान त्याग करके भी स्वतंत्रता की रक्षा करनी चाहिए।

आर्यों की इन शाखाओं में द्रुह्यु और मानववंश प्रमुख थे। इन दोनों को ही मान्धाता की विजयों के कारण अपना निवास-स्थान छोड़ना पड़ा। द्रुह्यु हमारे देश की पश्चिमोत्तर सीमा के तरफ चले गए। उनके वंश में इसी समय गांधार

राजा हुए जिनके नाम से तक्षशिला के चारो तरफ का प्रदेश ही गांधार कहलाने लगा। राजा गांधार के वंशजों ने अपने प्रदेश से और पश्चिम के प्रदेश भी जीत कर वहाँ अपने राज्य स्थापित किए। बहुत काल बाद गांधार में गणशासन की भी स्थापना हुई। उस समय उन की राजधानी तक्षशिला थी।

आनव-वंशियों का इतिहास अगले हजारों वर्ष तक उनके स्वातंत्र्यप्रेम का परिचय देता रहा। मान्धाता के काल में उन्हें भी अपना निवासस्थान छोड़ पश्चिम में पंजाब की ओर तथा पूर्व दिशा में आधुनिक मुँगेर और भागलपुर जिलो तक खिसकना पड़ा था। मान्धाता के कुछ काल बाद इस वंश में उशीनर राजा हुए। उनके वंशज सारे पंजाब में फैल गए।

उशीनर के एक भाई तितिक्षु ने पूर्व की ओर प्रयाण किया। उन्हों ने आधुनिक मुँगेर और भागलपुर जिलो में अपना राज्य स्थापित किया। इससे पूर्व में आर्यों के फैलाव की सीमा और भी विस्तृत हो गई। साथ ही 'मध्यदेश' के राजाओं का भी ध्यान इस ओर आकृष्ट हुआ। तितिक्षु के कुछ समय बाद ही कन्नौज के राजा गय हुए। उन्हो ने काशी के पूर्व दिशा मे एक राज्य स्थापित किया। उस समय तक वह जंगली प्रदेश था, पर आगे चल कर वही मगध कहलाया जिसे एक काल में काफी दीर्घ समय तक समूचे भारत का

राजनैतिक तथा सांस्कृतिक केन्द्र बनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। संभव है जिस गय राजा ने इस दिशा में सर्वप्रथम प्रयाण किया उनके ही नाम से गया बसा हो।

पंजाब की ओर फैलनेवाली आनव-वंश की शाखाओं में कई ऐसे महान कीर्ति वाले हुए हैं जो भारतीय इतिहास पर अपनी स्वातंत्र्य-प्रेम-संबंधी विचारधारा की अमिट छाप छोड़ते गए हैं। इन में दक्षिण-पश्चिम पंजाब में फैलने वाले यौधेय थे। निचले सतलज का बांगर अब भी उनके ही नाम से जोहियाबार कहलाता है। उनसे सटा शिविवंश का निवास-स्थान था। उशीनरवंश में जन्म लिए चक्रवर्त्ती राजा शिवि के नाम से ही इस वंश का नाम प्रचलित हुआ था। उस राजा ने शिविपुर नगर भी बसाया था जिसका आधुनिक नाम शोरकोट हो गया है।

शिविवंश की मुख्य शाखा शिवि ही कहलाती रही, पर उनका विस्तार बहुत बड़े पैमाने पर हुआ। सिंध प्रांत के उत्तर-पश्चिम कोन पर के सिवि या सिविस्तान प्रदेश तक वे फैल गए थे। शिवि से ही निकली या उससे संबंध रखती और शाखाओं में मद्र, केकय, अंबष्ट, सिंधु और सौवीर वंश हुए। मद्रों का फैनाव मध्य पंजाब में रावी और चनाब के बीच हुआ। केकय ने मुख्यतः चनाब और झेलम के बीच अपना आधिपत्य जमाया, पर चनाब का सबसे

निचला काँठा अबष्टों के कब्जे में आया। उनसे लगे सिन्धु और सौवीर के प्रदेश थे। सिन्धु में सिंध सागर दोआब का दक्षिणी भाग था तथा सौवीर की सीमा समुद्र-तट तक पहुँचती थी।

पुराणों में इन सब राज्यो का आरंभिक वर्णन मिलता है। एक स्थान पर कहा गया है कि ऐल-वंश के अवष्ठ ने पंजाब में एक राजवंश स्थापित किया था। इसी प्रकार शिवि और यौधेयों के संबंध में भी उनका कथन है कि उनलोगों में भी एक राज-शासन-प्रणाली प्रचलित थी। अवश्य ही ये वर्णन उनकी आरंभिक अवस्था से संबंध रखते हैं। बाद में चलकर यौधेय, शिवि, भद्र, केकय, अवष्ठ, गांधार, सिन्धु, सौवीर आदि सब राज्यों का जो कीर्तिपूर्ण इतिहास मिलता है उसमें वे सब प्रजातंत्री थे। इन सब लोगों में आरंभ में एक राज-शासन व्यवस्था थी, पर बाद में सब ने प्रजातंत्र-शासनप्रणाली ग्रहण कर ली थी।

परंपरागत कथन के आधार पर पुराणों में वर्णन है कि मध्यदेश के एक राजवंश के दो छोटे राजकुमार—यौधेय और भद्र पंजाब से निकल कर बाहर चले गए थे और उन्होंने अपने नामों पर राज्यों की स्थापना की थी। इससे मालूम होता है कि संस्थाओं या राज्यों के नाम उनके संस्थापकों के नाम पर रखे जाते थे। किसी राज्य का सारा समाज उसके

नेता के नाम से पुकारा जाता था। असल में ही आगे चल कर यौधेय भद्र आदि किसी एक वंश वा गोत्र के नाम नहीं रह गए थे बल्कि यह नाम राज्य वा राजनैतिक गोत्र सूचित करता था। राज्य के ही आधार पर नागरिको का नामकरण हुआ था। इसका अभिप्राय यह निकलता है कि यौधेय और भद्र नाम आगे चल कर किसी एक ही वंश के लिए नही रह गए थे बल्कि ये 'राजनैतिक राष्ट्र' बन गए थे।

यौधेय भद्र आदि 'राष्ट्र' बन जाने के बाद भी अपने स्वातंत्र्य-प्रेम के कारण अपना निवास-स्थान परिवर्तन करते रहे हैं। उनका यह विश्वास था कि जहाँ वे प्राचीन काल की भाँति स्वतंत्रतापूवक रहेंगे वहीं उनका देश भी होगा। इस विश्वास के उद्भव होने का संकेत हमें ई० पू० एकतीसवीं शताब्दी में मान्धाता के काल के ही आसपास मिल जाता है।

उत्तर तथा दक्षिणी आर्य उपनिवेशों के संगम

कार्तवीर्य अर्जुन की मृत्यु के बाद हैहयवंश का जो अभियान ढीला पड़ गया था वह लगभग एक शताब्दी बाद पुन. आरंभ हुआ। हैहय लोगों की शक्ति अबतक नष्ट नहीं हो पाई थी। कार्तवीर्य के एक वंशज का नाम तालजंघ था। उसी की प्रेरणा से उत्तर भारत पर हैहयवंश के फिर से हमले होने लगे। पर यह हमला पहले की तरह किसी एक योद्धा सम्राट् के नेतृत्व में आरंभ नहीं हुआ। इस समय तालजंघ के कई वंश हो गए थे। उन्हीं वंशों की शाखाएँ अब पश्चिम में खंभात की खाड़ी से लेकर मध्य में यमुना-गंगा कांठे और काशी के साथ साथ पूर्व में वैशाली तक के प्रदेशों पर धावे करने लगी थीं।

हमला करनेवाले इन तालजंघ के वंशों में अवंति, भोज, शार्यात और वीतिहोत्र प्रमुख थे। इन्हीं वंशों में एक ने अपनी राजधानी विदिशा (आधुनिक बेसनगर) में स्थापित की।

उसी के चारो तरफ़ का प्रदेश जिसे हम आजकल मालवा कहते हैं—उसी का नाम हैहय-वंश की अवंति-शाखा के उत्कर्ष के ज़माने में अवंति दिया गया था। आगे चलकर इस अवंति ने हमारे देश के इतिहास में काफी ख्याति प्राप्त की। हिन्दू इतिहास के ही किसी युग में इसी अवंति में एक ऐसी द्वै राज्य-शासन-प्रणाली स्थापित हुई जो केवल भारत के ही इतिहास म पाई जाती है। महाभारत में इसका उल्लेख मिलता है कि अवंती में विंद और अनुविंद दो राजाओं का राज्य था और वे दोनों राजा मिल कर शासन करते थे।

दूसरी शाखा भोज ने अपने नाम पर ही एक नई शासन-प्रणाली—भौज्य का जन्म दिया। कुछ विद्वानों का अनुमान है कि अपनी विशिष्ट शासनप्रणाली के कारण ही इस वंश वा 'जाति' के लोग भोज कहलाते थे। इन में एक से अधिक नेता या शासक हुआ करते थे। इनके नेता वा शासक उच्च और साधारण दोनों ही वर्गों के होते थे। राज्याधिकार उन नेताओं को ही प्राप्त होता था। गुजरात इन भोज वा भौज्य लोगो के सर्वप्राचीन निवासस्थानों में एक है। वहाँ से ही इन का प्रसार और भी बहुत-से प्रदेशों में हुआ था। आधुनिक कच्छ की राजधानी भुज के रूप में अबतक भोज वा भौज्य शब्द वर्तमान है। भोजों का फैलाव दक्षिण दिशा में

भी हुआ था। ऐतरेय ब्राह्मण में उन्हें दक्षिण में ही स्थान दिया गया है।

हैहय वंश की जो शाखाएँ इस समय उत्तर की ओर बढ़ीं उन्हें कुछ विशेष सफलता नहीं मिली। उन्होंने कन्नौज का राज्य खतम कर दिया, पर उस पर का उनका अधिकार अल्प स्थायी रहा। उन का हमला अयोध्या पर भी हुआ। वहाँ के राजा को भी जंगल में भाग जाना पड़ा। सारे प्रदेश में अराजकता छा गई। हैहयवंश का राज्य यहाँ भी अधिक दिनों तक नहीं रहा। वैशाली की सीमा तक जो हैहयशाखा पहुँच गई थी उसने भी कुछ काल तक घिरावा डाले रखा, पर वैशाली का राजा करंधम उस घिरावे को तोड़ कर बाहर निकल आने में सफल हुआ। उसने हैहय आक्रमणकारियों को बहुत दूर तक पीछे हटा दिया। काशीराज भी अबतक हैहयों का सामना करते आ रहे थे। वहाँ के भी राजा प्रतर्दन को अपने देश पर पुनः अधिकार जमा लेने में सफलता मिली। इसी प्रतर्दन के लड़के वत्स ने प्रयाग के पड़ोस मे भी अपना राज्यविस्तार किया। वह प्रदेश उस समय से वत्स कहलाने लगा।

हैहयवंश अपने उत्तर-भारत के इस अभियान में असफल होने के बाद ही पीछे पड़ गया। पर उसने दक्षिण भारत को उत्तर-भारत के साथ के जिस गहरे संपर्क मे ला

देने का ऐतिहासिक कार्य किया था वह दिनों दिन अविच्छिन्न बनता गया। इस कार्य को और आगे बढ़ाने के लिए इतिहास ने हैहयों के पीछे पड़ जाने पर यादवों को अपना अस्त्र बनाया। विंध्य और ऋक्ष शृँखला का पूर्वी भाग—मेकल पर्वत तक का प्रदेश अबतक आर्यों से अछूता था। यादव उसी दिशा में आगे बढ़े। उन्होने वे अछूती गिरि-शृँखलाएँ पार कीं और उनके दक्षिण में एक नया राज्य स्थापित किया। *उस राज्य का नाम उसे बसानेवाले यादववंशीय राजा के ही* नाम पर विदर्भ पड़ा। वही आजकल का बरार है। वहाँ से यादवों का संबंध गोदावरी काँठे से हो गया, इससे उनका और भी दक्षिण की ओर का फैलाव संभव हो गया।

इन्हीं यादवों के वंशज उत्तर की ओर भी बढ़े। पीछे पड़ते हैहय-वंश के बहुत-से इलाकों पर उन्हों ने अपना आधिपत्य जमाया। उत्तर-भारत का यमुना से ताप्ती तक का प्रदेश उनके ही प्रभुत्व-क्षेत्र में आ गया। जब राजा विदर्भ के ही वंश में चिदि राजा हुए तो उनके जमाने में आधुनिक चंबल और केन के बीच का यादव प्रदेश उनके ही नाम पर चेदी कहलाने लगा। वही प्रदेश आजकल का बुंदेलखंड है।

यादवों के इसी प्रसार के समय पूर्वी भारत में भी आर्य राज्यों का प्रसार हुआ। आधुनिक मुंगेर भागलपुर में उन दिनों आनव-वंश की पूर्वी शाखा का राज्य था। उस वंश में

इस समय अंग राजा हुए और उन्हीं के नाम से उस प्रदेश का ही नाम अंग दे दिया गया। अंग के वंश की ही शाखाओं में वंग, पुण्ड्र, सुह्म और कलिंग वंश हुए। इन वंशों ने अपने अपने नाम से प्रदेश बसाकर आजकल के क्रमशः पूर्व बंग, दक्षिणी आसाम, मेदिनीपुर तथा उड़ीसा के समुद्र-तट तक आर्य प्रदेश विस्तृत किए। अंग से चलने वाले वंश का इस प्रकार घूम कर जाना भौगोलिक दृष्टि से स्वाभाविक था। इस घुमाव के कारण उन्होंने आधुनिक छोटानागपुर के पहाड़ और बीहड़ प्रदेशों के बीच के विकट रास्तों की असुविधाओं से अपना बचाव कर लिया। इधर से आर्यों के रास्ता न बनाने के कारण ही विंध्य के पूर्वी भाग—झाड़खंड में पुरानी जातियों का निवासस्थान ज्यों का त्यों ही बना रह गया है।

कलिंग और विदर्भ के संगम पर ही विंध्य की पश्चिमी सीमा—माहिष्मती की ओर आने वाले तथा अंग की ओर से विंध्य के पूर्वी छोर की परिक्रमा करते कलिंग पहुँचे आर्य आ मिले। उस संगम पर ही उत्तर तथा दक्षिण की आर्य-प्रसार की धाराएँ एक हो गईं। उन धाराओं के मिलने से सप्तसिंधव से लेकर विंध्य की परिक्रमा कर जो आर्य बस्तियों का विशाल भूभाग बना उसे ही हम महान आर्यावर्त्त कह सकते हैं। इसी का नाम आगे चलकर 'भारतवर्ष' पड़ा है।

भारतवर्ष

काशी और कोशल का उत्कर्ष

इतिहास की धारा हमारी दृष्टि के अगोचर रहती है। किसे, कितनी देर के लिए और किस काम के लिए वह अपनी कूँची बनाती है यह हमें उस कूँची द्वारा चित्र अंकित कर दिए जाने के बाद ही पता लगता है। साथ ही हम यह भी देखते हैं कि यदि वह धारा अपनी किसी कूँची के कार्य से अपना मकसद पूरा होता नहीं देखती तो उसे वह झट बदल देती है।

हमारे देश के उनतीसवीं से पचीसवीं शताब्दी ई० पू० के बीच के चार सौ वर्ष में ऐतिहासिक धारा कई बार अपनी कूँची बदलती दिखाई देती है। वह हमारे विशाल आर्यावर्त्त की पटभूमि पर कोई अत्यंत सुन्दर चित्र आँकना चाहती थी। इस कार्य के सिलसिले में अपने हाथ के अस्त्र में यदि उसे थोड़ा भी नुख्स दिखलाई पड़ा है तो उसने उसे झट पटक कर अपने हाथ में एक और अस्त्र ले लिया है। अपने अद्भुत

निर्माण के लिए उस धारा ने पहले दक्षिण के राज्यों को अपना अस्त्र बनाया। पर आज्ञानुसार उन से उसका कार्य नहीं सधा तब वह एक एक कर दूसरे राज्यों को अपनाती उत्तर की ओर बढ़ती गई। उसका इस दिशा में अग्रसर होना देख सदेह होने लगता है कि शायद अपने अज्ञात मन में हिमालय से प्रेरणा पाने की धारणा रहने के ही कारण तो कहीं वह उत्तरोत्तर उत्तर की ओर नहीं बढ़ती गई है।

आर्यावर्त्त के निर्माण-कार्य में हैहय-वश पीछे पड़ता गया। तब इस भूमि का दक्षिण-पश्चिम अंचल सँवारने के लिए यादव आगे आए। पर आर्यावर्त्त का उत्तर-पूर्वी अचल विकसित करना ऐतिहासिक धारा की दृष्टि में और भी अधिक आवश्यक था। इस कार्य के लिये वह सर्वप्रथम काशी और कोशल को आगे ले आई

उन दिनों काशी पर हैहयवश की वीतहव्य-शाखा का आधिपत्य था। काशी के पुराने अधिकारियों के वशज उन से युद्ध करते आ रहे थे। उन वशजों में राजा प्रतर्दन को ही इस समय पहले पहल पूरी सफलता मिली। महाभारत के अनुशासन-पर्व में इसकी रोचक कथा दी गई है। वहाँ कहा गया है कि अपने शत्रु प्रतर्दन के भय से राजा वीतहव्य भृगु के आश्रम में शरणापन्न हुए। प्रतर्दन आश्रम में उपस्थित हुए और बोले कि आपके आश्रमस्थ सब लोगों को देखना चाहता

हैं। भृगु ने कहा कि मेरे आश्रम में कोई क्षत्रिय नहीं है, सभी ब्राह्मण हैं। प्रतर्दन ने सब कुछ समझ कर भी कहा कि मुझे अब कोई दुःख नहीं है क्योंकि मैंने अपने तेज से ही वीतहव्य को क्षत्रिय जाति से बहिष्कृत कराया। उधर वीहतव्य भृगु के वचन मात्र से ब्रह्मर्षि हो गए। उनके पुत्र गृत्समद भी ब्रह्मचारी और ब्राह्मणों के भी पूज्य हुए। उसके बाद से उनकी वंश परंपरा में बहुत-से वेद-वेदांग जानने वाले हुए। महाभारत के अनुसार उस वंश-परंपरा का क्रम था गृत्समद, सुतेजा, वर्चा, विहव्य, वितव्य, सत्य, सत, श्रवा, तम, प्रकाश, वागिंद्र, प्रमति, रुरु, शुनक और शौनक। महर्षि भृगु के प्रसाद से इस प्रकार एक क्षत्रिय-वंश में सबके सब ब्रह्मर्षि हुए। इस कहानी से यह संकेत अवश्य मिल जाता है कि हैहय-वंश की वितहव्य-शाखा काशी मे पराजित होने के बाद आर्यावर्त्त के राजनैतिक निर्माण-कार्यों से बिलकुल अलग हो गई। पर उनके संबंध में यह संतोष की बात थी कि वे आर्य-संस्कृति-रक्षा-संबंधी कार्यों में संलग्न हो गए। काशीराज ने भी फिर उन्हें नहीं छोड़ा।

पर हैहयवंश की और कई शाखाएँ पिछड़ जाने पर 'म्लेच्छ' हो गईं। इस संबंध की कहानी विष्णुपुराण में दी गई है। वहाँ इनके संबंध में कहा गया है कि हैहय तालजंघ आदि पहले क्षत्रिय थे। इन्होंने सगर का पैत्रिक राज्य छीन

लिया था इसलिए सगर ने उनके साथ घोर युद्ध किया। ये लोग हार कर और कोई उपाय न देख वशिष्ठ की शरण में गए। ये वशिष्ठ कूटनीति जाननेवाले कुशल राजनीतिज्ञ थे। उन्होंने सगर से कहा—'इन के रक्त से व्यर्थ ही हाथ मत रँगो। संस्कृति से रहित मनुष्य तो जीवन्मृत ही है।' इसीलिए उन्होंने सगर से कहा—'जीवन्मृतों को मारने से क्या लाभ? तुम्हारी प्रतिज्ञा की रक्षा के लिए मैंने ही उनके धर्म और ब्राह्मण संसर्ग का परित्याग करा दिया।' इस प्रकार हाथ से बिना मारे मनुष्य को भीतर-भीतर मार डालने की इस युक्ति से प्रसन्न हो सगर ने कहा—'तो फिर यही हो' और पराजितों की वेषभूषा और तरह की कर दी। इस प्रकार इन क्षत्रियों को स्वाध्याय और वषट्कार से वंचित करके दंड दिया गया। ब्राह्मणादि के संसर्गत्याग से वे म्लेच्छ हो गए।[१] इस कथा से हमें अपनी संस्कृति और वेषभूषा का मूल्य मालूम होता है। साथ ही यह भी पता चलता है कि पराजित क्षत्रिय आर्येतर कोटि के करार दे दिए गए थे।

ऐतिहासिक व्यक्तियों के संबंध में स्पष्टीकरण के लिए यहाँ यह खयाल रखना चाहिए कि वशिष्ठ कई हो गए हैं; इसी भाँति विश्वामित्र और परशुराम भी। उनके वंशज बहुधा

१. क्षितिमोहन सेन : भारतवर्ष में जातिभेद, पृ० १०-११।

उन्हीं के नामों से पुकारे जाते रहे हैं। यह न समझ उन्हें एक ही व्यक्ति मान लेने से ऐतिहासिक घटनाओं के समझने में गोलमाल हो जाता है। सत्यव्रत त्रिशंकु के समय के वशिष्ठ सगर के समय के वशिष्ठ के पूर्वज थे! उसी प्रकार रामायण-काल के वशिष्ठ उन पूर्वजों के वश के थे।

ऐतिहासिक घटनाएँ इसका समर्थन करती हैं कि इक्ष्वाकुवशी राजा सगर ने न सिर्फ अयोध्या को ही तालजघ हैहयों के अधिकार से छुड़ाया बल्कि हैहयों के मुख्य प्रदेश पर धावे करके भी उनकी शक्ति नष्ट कर दी। उसने विदभ पर भी चढाई की, पर वहाँ के राजा ने अपनी कन्या केशिनी से उनका विवाह कर उनसे सधि कर ली।

काशी और कोशल के इस उत्कर्ष से आर्यावर्त्त के इतिहास में एक नया काल आरभ हुआ। दक्षिण से आने वाली लहरें इस समय पूर्णतया समाप्त हो चुकी थीं। उन लहरों से उत्तर-भारत के आर्यों ने कोई लाभ नहीं उठाया, यह कहना गलत होगा। और नहीं तो दक्षिण के सपर्क से लोहा उनके आम व्यवहार में ज़रूर आ गया। अपने मस्तिष्क से उन्होंने फिर तत्कालीन लोहे के अस्त्रों में और भी अधिक विकास किए। इससे उन्हें उत्तर भारत की लहर फिर से दक्षिण की ओर ले जाने में अवश्य ही सहूलियत मिली।

पर इतने से ही ऐतिहासिक धारा का अपना मक़सद

शायद पूरा नहीं हो रहा था। आर्यावर्त्त को वह जिस रूप में देखना चाहती थी उसके निर्माण के लिए उसने काशी और कोशल को छोड़ एक तीसरे को ही अपना अस्त्र बनाया। आगामी काल में उस तीसरे वंश की अनेक शाखाओं की ही उत्तर भारत पर प्रधानता रही। उनके ही उत्कर्ष-काल में हमारा देश—भारतवर्ष बना।

भारत-वंश

प्रकृति अपनी सुन्दरतम कीर्ति यथासंभव ढँक कर ही रखती है। अपने इसी अभ्यास के अनुसार उसने शकुंतला को भी एक वन में 'सूखे पत्तों में खिली कली के समान' छिपा रखा था। वह वन ही एक ऐसे अंचल में था जहाँ हिमालय के ध्यान-मग्न शृँग ही उसकी देखरेख रख सकते थे। उन शृँगों के जपने की माला-स्वरूप मालिनी नदी ने ही शकुंतला को खेलना और बोलना सिखलाया था। उसी शकुंतला को इतिहास ने महान् भारत-वंश की जन्मदात्री होने का श्रेय प्रदान किया।

सिर्फ हमारे देश के ही नहीं बल्कि सारे संसार के साहित्य में—'शकुंतला' का सौन्दर्य अद्वितीय है। महाकवि कालिदास तक पूर्णतया उसके पक्ष में ही रहने के कारण निष्पक्ष दृष्टि से उसका वर्णन कर पाने में अपने को असमर्थ पाते थे। पर उसकी वास्तविक कीर्ति सौन्दर्य से भी बढ़ी-

चढ़ी थी। इसीलिए शायद अनुश्रुति के विद्वानों तक को उस का पूरा वर्णन कर पाने का साहस नहीं हुआ।

इतिहास की धारा आर्यावर्त्त की पटभूमि पर जो महान चित्र अंकित करना चाहती थी उसके लिए उसे रंग और उपयुक्त कूँची तैयार करने की आवश्यकता थी। इक्ष्वाकु-वंशी राजा सगर को वह आज़मा चुकी थी। सगर की मृत्यु के बाद ही उसने इस कार्य के लिए अबतक के इतिहास में अज्ञात व्यक्तियों को चुना। वे थे—शकुंतला और दुष्यंत। शकुंतला का उपाख्यान बहुत प्रसिद्ध है।

दुष्यंत राज्यहीन पौरव वंश का साधारण व्यक्ति था। हिमालय की तराई के एक छोटे राज्य के राजा ने उसे अपना उत्तराधिकारी बना लिया था। राजा होने पर उसने गंगा-यमुना काँठे के उत्तरी भाग में फिर से पौरव सत्ता स्थापित की। अपने यौवन-काल में ही एक बार शिकार खेलते-खेलते वह मालिनी नदी के तट पर जा निकला। वहाँ ही उसे कण्व ऋषि के आश्रम में तापसी वेष में शकुंतला मिली। उसी ऋषि के आशीर्वाद से उन दोनों का विवाह हुआ। कुछ दिनों बाद शकुंतला ने एक पुत्र रत्न को जन्म दिया। वही बड़ा होने पर आर्यावर्त्त का महान् प्रतापी सम्राट भरत हुआ। उसी का वंश आगे चल कर भारत वंश कहलाया।

भरत के राज्य-काल में उत्तर भारत के आर्य-राज्यों

का पुनः एकीकरण हुआ। पश्चिम में सरस्वती नदी और पूर्व में अयोध्या तक के प्रदेश उसके निजी शासन में थे। और भी दूसरे बहुत-से राज्य उसकी अधीनता स्वीकार करते थे, इसी कारण वह चक्रवर्ती वा सार्वभौम—सारे आर्यावर्त्त का अधिपति कहलाता था। महाभिषेक द्वारा उसने सम्राट की उपाधि ली थी। उसने यमुना, सरस्वती और गंगा के तीरों पर अनेक अश्वमेध यज्ञ भी किए थे; इस सिलसिले में भी उसकी अनेक विजय-यात्राएँ हुई होंगी।

भरत के काल में ही आर्यावर्त्त में काफी समय के लिए शांति स्थापित हुई। उत्तर आर्यों की उच्च संस्कृति की लहर फिर से चारों तरफ फैलने लगी। आर्यावर्त्त का चित्र भी अधिकाधिक उज्ज्वल बनने लगा। इन्हीं बातों को देख ऐसा कहा जाता है कि उस शकुंतला-पुत्र भरत के नाम से ही हमारे देश का नाम—भारतवर्ष पड़ गया।

इस काल में ही आर्यावर्त्त की पटभूमि एक महान् चित्र अंकित किए जाने के उपयुक्त बनी। कुछ काल बाद जब वह चित्र वास्तव में तैयार हुआ तो उसके आलोक में हमारा इतिहास इस भाँति जगमगा उठा जैसा और पहले कभी संभव नहीं हुआ था।

वह चित्र था—'रामायण'

रामायण-काल

आदर्श मानव

रामायण काल हमारे देश के इतिहास का प्रभात रहा है। 'उषा' का गान ऋषियों ने ऋचाओं में किया था। उसके बाद आदिकवि वाल्मीकि ही हमें अपने छंदों के झंकार द्वारा प्रभात की सूचना देने आए थे। उन छंदों द्वारा ही लौकिक उपाख्यानमयी कविता का आविर्भाव हुआ है।

मानवीय भावों की अनुभूति एक विशेष सीमा पर पहुँच जाने पर ही कविता के रूप में प्रस्फुटित हो जाती है। हमारे देश के इतिहास में भी एक समय ऐसा आया था जब मानवीय भावों का कविता के रूप में फूट निकलना अनिवार्य हो गया था। उस काल में सारे देश में व्याप्त उन भावों का साक्षात् ज्ञान वाल्मीकि ने अपने निजी जीवन के अनुभवों से प्राप्त किया था। इसीलिए वे न केवल अपने निजी भाव बल्कि उस काल की विशिष्ट अनुभूति को ही अपनी कीर्ति द्वारा अमर बना देने में समर्थ हुए। उसी कारण आज हजारों वर्ष

बाद भी उनकी उस कीर्ति का पवित्र स्रोत नाममात्र के लिए भी सूख नहीं पाया है। आज भी रामायण का गान सुन कर श्रोताओं के समस्त शरीर में रोमाञ्च हो आता है। वह गान हमें आज भी क्षुद्र सांसारिक चिंताओं के संसार से बल पूर्वक बहुत ऊपर खींच अपने साथ उठा ले जाता है।

वाल्मीकि मुनि ने जिस पटभूमि पर चित्र अंकित किया है वह बड़ा ही विशाल और अनोखा है। एक शब्द में उसे हम महान् भारतीय महामानव का हृदय ही कह सकते हैं। उसी कोमल निर्मल स्फटिक पर उन्होंने अत्यंत कोमल मानवीय भावनाओं को उनके यथार्थ रूप में प्रस्थापित कर दिया है।

उन चित्रों का आकर्षण भी बड़ा जबर्दस्त है। महाकवि भवभूति के अनुसार—'अपि ग्रावा रोदित्यपि दलति वज्रस्य हृदयम्'—सीता के वियोग में राम को रोता देख निर्जीव पत्थर भी रो पड़ते हैं और वज्र का हृदय भी विदीर्ण होने लगता है। उन्हें देख कालिदास भी अपने को सांत्वना देते हैं—'अभितप्तमयोऽपि मार्दवं भजते कैव कथा शरीरिषु'—ताप से लोहा भी पिघल उठता है, तब कोमल-हृदय मानव का चित्त संताप से मृदु बन जाए, क्या इस विषय में संदेह के लिए स्थान है ?

वाल्मीकि मुनि के वर्णन में मानवहृदय को प्रभावित

करने की अद्भुत क्षमता है। वे अपनी इच्छानुसार हमें रुलाते और हँसाते हैं। इसका सबसे बड़ा कारण रामायण का प्रकाश्य रस है। उसमें मुख्य रूप में मनुष्य के ही सुख-दुख, विरह-मिलन, अच्छे-बुरे के विरोध की कथा है; उस चित्रपट पर दानव की पटभूमिका मानव की महिमा उज्ज्वल करने के लिए ही है। मानव-हृदय के भाव और उद्वेगों का उसमें बहुत ही सूक्ष्म ढंग से सिर्फ विश्लेषण ही नहीं हुआ है बल्कि उन्हें उच्च पराकाष्ठा पर पहुँचा दिया गया है। उन मानवीय प्रेरणाओं और आदर्शों में हमें अपने हृदय के भावों से मिलता जुलता और उन्हीं का विराट स्वरूप दिखाई देता है, इसीलिए उन वर्णनों के साथ पूर्णतया खिंचते जाने से अपने को रोक पाने में हम असमर्थ हो जाते हैं।

वेदों से रामायण के वर्णन का स्पष्ट विभेद भी हमें इस 'मानव-चित्रण' के क्षेत्र मे ही दिखाई देता है। वेदो के इन्द्र जैसे नायकों का स्वरूप बहुत दूर तक अलौकिक है। वे मनुष्यों की कोटि से बहुत भिन्न प्रकार के हैं। वे 'देवताओ' की कोटि में आते हैं। पर दूसरी ओर वाल्मीकि ने इस संसार के ही एक महान-हृदय मानव को अपना नायक चुना है। अपनी रचना आरंभ करने के पहले ही मुनि नारद जी से पूछते हैं—'इस समय इस संसार में गुणवान, पराक्रमी, धर्मज्ञ, उपकार माननेवाला, सत्यवक्ता और दृढ़प्रतिज्ञ कौन

है ? सदाचारयुक्त समस्त प्राणियों का हितचिंतक, विद्वान्, सामर्थ्यशाली और एकमात्र सुन्दर पुरुष कौन है ? मन पर अधिकार रखनेवाला, क्रोध को जीतनेवाला, कान्तिमान और किसी की भी निन्दा नहीं करनेवाला कौन है तथा संग्राम में कुपित होने पर किस से देवता भी डरते हैं ?'

इसके उत्तर में नारद जी उन गुणों वाले व्यक्ति का सिर्फ नाम ही नहीं बतलाते बल्कि उस आदर्श मानव का पूरा चित्र ही अंकित करते हुए कहते हैं—'इक्ष्वाकु-वंश में उत्पन्न हुए एक ऐसे पुरुष हैं जो लोगों में राम के नाम से विख्यात हैं; वे ही मन को वश में रखनेवाले, महाबलवान्, कांतिमान, धैर्यवान और जितेन्द्रिय हैं। वे बुद्धिमान, नीतिज्ञ, वक्ता, ऐश्वर्यवान तथा शत्रु-संहारक हैं। उनके कंधे मोटे और भुजाएँ बड़ी-बड़ी हैं, ग्रीवा शंख के समान और ठोढ़ी भरी हुई है। छाती उनकी चौड़ी है तथा गले के नीचे की हड्डी मांस से छिपी है। उनका धनुष बड़ा है तथा वे शत्रुओं का दमन करने वाले हैं। उनकी भुजाएँ घुटनों तक लंबी हैं, मस्तक सुन्दर, ललाट भव्य और चाल मनोहर है। उनका शरीर मध्यम और सुडौल तथा देह चिकनी है। वे बड़े प्रतापी हैं। उनका वक्षस्थल भरा हुआ और आँखें बड़ी बड़ी हैं। वे शोभायुक्त और शुभ लक्षणों से सम्पन्न, धर्म के ज्ञाता, सत्यप्रतिज्ञ, प्रजा के हितसाधन में लगे रहनेवाले, यशस्वी,

ज्ञानी, पवित्र, जितेन्द्रिय और मन को एकाग्र रखने वाले हैं। प्रजापति के समान श्रीसम्पन्न, वैरिविध्वंसक तथा धर्म और जीवों के रक्षक हैं। स्वधर्म और स्वजनों के पालक, वेद-वेदांगों के तत्व जानने वाले तथा धनुर्वेद में प्रवीण हैं। अखिल शास्त्रों के मर्मज्ञ, स्मरणशक्ति से युक्त और प्रतिभा-सम्पन्न हैं। अच्छे विचार और उदारहृदय वाले वे रामचन्द्र जी बातचीत करने में चतुर तथा समस्त लोगों के प्रिय हैं। जैसे नदियाँ समुद्र में मिलती हैं उसी प्रकार राम से सदा साधु पुरुष मिलते रहते हैं। वे आर्य हैं एवं सब में समान भाव रखने वाले हैं, उनका दर्शन सदा ही प्रिय मालूम होता है। वे गंभीरता में समुद्र और धैर्य में हिमालय के समान हैं। वे क्रोध में कालाग्नि के और क्षमा में पृथ्वी के समान हैं; दान में वे कुबेर और सत्य में द्वितीय धर्मराज के समान हैं।'

यहाँ एक मानव को ही बहुत से अनुपम गुणों का भाजन बतलाया गया है। रामायण में आदर्श नर-चरित्र का ही कीर्तन हुआ है। उसी सिलसिले में उच्च मानवीय आदर्श का भी स्थूल चित्र अंकित कर दिया गया है। रवीन्द्रनाथ के शब्दों में—'राम का अर्थ है आराम, शान्ति; रावण का चीत्कार, अशान्ति। एक में नए अंकुर का माधुर्य है, पल्लव की मर्मर ध्वनि है, तो दूसरे में लोहे के बँधे रास्ते पर से भागते हुए दैत्य-रथ के सिंगे की आवाज है। त्रेतायुग के बहुसंग्रही,

बहुमासी रावण विद्युत और वज्र धारण करने वाले देवताओं को अपने महल के सामने बाँध रखता और उनसे काम लिया करता था। उसका प्रताप चिर दिन ज्यों का त्यों बना रह सकता था। किन्तु उसकी देवद्रोही समृद्धि के बीच एक मानव-कन्या आ खड़ी हुई, बस उसी समय धर्म के देवता जग पड़े। मूढ़ निरक्ष बानरों के द्वारा उन्होंने राक्षस को परास्त कराया!

रामायण-काल के इस 'धर्म के देवता' का स्वरूप अवश्य ही बहुत विस्तृत है। उनका उच्च मानवीय भावों और आदर्शों से बहुत ही गहरा संबंध है। धर्म की रक्षा में मानव को कड़ी से कड़ी अग्निपरीक्षा से होकर निकलना पड़ता है। उन परीक्षाओं में पूर्णतया उत्तीर्ण होने पर ही कोई व्यक्ति आदर्श मानव कहलाने का अधिकारी हो सकता है। रामायण-काल की विशेषताओं में हम 'धर्म-रक्षा'—कठिन से कठिन त्याग कर अपने को सच्चे अर्थ में मानव प्रमाणित करने का आदर्श ही सबसे प्रधान बन गया देखते हैं।

धर्म-रक्षा

जिस धर्मरक्षा के कारण हम श्री रामचन्द्र को मर्यादा-पुरुषोत्तम बन गया देखते हैं उस रक्षा की प्रेरणा उनके पहले से ही रहती आ रही थी, पर उस धर्म की अभिव्यक्ति का स्वरूप पलटता जा रहा था। यह परिवर्तन आर्य-विचारधारा को भय से पूर्णतया दूर कर मानवीय श्रद्धा की ओर अग्रसर करती जा रही थी। इस श्रद्धा की भावना को हम रामचन्द्र के काल में ही पूर्णता प्राप्त करता देखते हैं।

रामचन्द्र के पूर्वज राजा हरिश्चन्द्र के समय तक आर्यों में भयानक वरुण यज्ञ की प्रथा प्रचलित थी। वरुण से आर्य डरते थे। उनका दाक्षिण्य प्राप्त करने के लिए वे नर-बलि तक चढ़ाते थे। वैसे मौकों पर राजाओं को अपने प्राणों से भी प्यारे एकलौते लड़के की यज्ञ में आहुति दे देने का भी वृत्तांत मिलता है। पुरोहित मंत्र पाठ करते थे और राजा अपने हाथ से अपने पुत्र को अग्निदेव को अर्पण कर देते थे।

इस सुकठिन कार्य की भी गिनती उन दिनों 'धर्म' में ही की जाती थी। ऐतरेय ब्राह्मण में भी यह दृष्टांत दिया गया है कि हरिश्चन्द्र राजा के पुत्र रोहित को वरुणयज्ञ में बलिदान करने की बात थी। इसकी पुष्टि भागवत से भी होती है।

मानवीय भावों के विकास के साथ साथ आर्यों के बीच से यह दारुण नरमेध की प्रथा धीरे-धीरे उठने लगी। जो कर्मकांडी पुरोहित एक समय इस प्रथा के समर्थकों में थे उन्होंने ही इसके खिलाफ़ आवाज़ उठाई। राजा हरिश्चन्द्र के काल में ही हमें यह आवाज़ उठती दीखती है। उनके समय के वरुण यज्ञ में राजपुत्र रोहित के बदले बाद में शुनःशेप को बलि चढ़ाने का आयोजन हुआ। उस यज्ञ में .विश्वामित्र होता, जमदग्नि अध्वर्यु, वशिष्ठ ब्रह्मा और आंगिरस उद्गाता थे। पर हरिश्चन्द्र के ही जीवन-काल में हम उन्हीं विश्वामित्र को राजा पर भयानक नाराज होता देखते हैं। हरिश्चन्द्र अपने लड़के के बदले एक दूसरे लड़के की बलि दे महान 'धर्मात्मा' कहलाने का गर्व करते थे। उनका यह गर्व तोड़ने के लिए ही विश्वामित्र ने उनका सारा राजपाट ले लिया और उनसे चांडाल की दासता स्वीकार करवाई। इतना ही नहीं, हरिश्चन्द्र के पुत्र के अंतिम संस्कार के लिए आई अपनी शैव्या से भी उनके वस्त्र का आधा भाग ले श्मशान-कर वसूल करने के लिए उन्हें वाध्य किया।

विश्वामित्र के वृत्तांत से हमें उनके और भी बहुत-से मामलों में उस युग के विचार से महान क्रान्तिकारी होने के प्रमाण मिलते हैं। उनके अपनी तपस्या केवल से 'ब्राह्मणत्व' प्राप्त करने की कथा काफ़ी प्रसिद्ध है। इस मामले में उनका वशिष्ठ से बहुत अधिक काल तक विवाद चला था। उन दोनों के झगड़ों का आरंभ मालूम पड़ता है पौरोहित्य आदि के स्वार्थ के लिए ही हुआ था, पर आगे चलकर उसने 'धर्मरक्षा' का स्वरूप ले लिया। हैहय, तालजंघ, पह्लव, पारद आदि अनेक क्षत्रिय जातियों को वशिष्ठ ने ब्राह्मणादि का संसर्ग त्याग करने के लिए बाध्य कर 'म्लेच्छ' बना दिया था। उनके उस ढंग के कार्यों का इतिहास आर्यों के अपनों को पराया बनाने का इतिहास है। [1] इस दृष्टि से पुरातन काल के वशिष्ठ अध सनातन धर्मनिष्ठ जान पड़ते हैं। विश्वामित्र का उनसे जिस ढंग पर विवाद चला है उससे जान पड़ता है कि विश्वामित्र पराए को भी अपना बना लेने के पक्षपाती थे। किन्तु वे 'ब्रह्मर्षि' नहीं थे इसलिए आर्यों के विधान में इस ढंग का परिवर्तन ले आने का उनका अधिकार नहीं था। साथ ही जब वे आगे आए तब वशिष्ठ ने उन्हें बुरी तरह पराजित भी किया था। इसीलिए विश्वामित्र के मन में स्वाभाविक ही उठा—'क्षत्रिय-बल को धिक्कार है! ब्रह्मतेज से प्राप्त होनेवाला

१. क्षितिमोहन सेन : भारतवर्ष में जातिभेद।

बल ही वास्तव में बल है, क्योंकि आज एक ही ब्रह्मदंड ने मेरे सभी अस्त्रशस्त्रों को शांत कर दिया। अतः अब मैं अपने मन और इन्द्रियों को निर्मल कर उस महान् तप का अनुष्ठान करूँगा जो मेरे लिए ब्राह्मणत्वप्राप्ति का कारण बन सके।' इसके बाद वे कठोर तप में लग गए। इसी तप के सिलसिले में उन्होंने 'दूसरे प्रजापति की भाँति दक्षिण मार्ग के लिए नए सप्तर्षियों की सृष्टि की, क्रोध में आ उन्होंने नवीन नक्षत्रों का भी निर्माण कर डाला तथा नूतन देवताओं की सृष्टि प्रारंभ की।'

इस तपस्या के काल में विश्वामित्र के दक्षिण दिशा में रहने का ज़िक्र किया गया है। उनसे सम्बन्ध रखनेवाले वर्णनों के आधार पर अनुमान होता है कि वे आर्येतर जातियों के देवताओं को भी आर्यों द्वारा मान्य करा उन्हें अपना लेने के पक्षपाती थे। आगे चलकर उस समय के आर्य विद्वानों द्वारा यह मान्य भी कर लिया गया कि जब तक संसार क़ायम रहे तब तक विश्वामित्र द्वारा सृष्टि की गई वस्तुएँ क़ायम रहेंगी। अंत में अपने कठोर तप द्वारा विश्वामित्र ने ब्रह्मर्षि का पद भी प्राप्त किया। वशिष्ठ ने भी विश्वामित्र को ब्राह्मण रूप में स्वीकार कर लिया। उसके बाद विश्वामित्र द्वारा आरंभ किए गए सुधारों की आर्य-मंडली में अवहेलना नहीं की जा सकती। उन सुधारों के आधार

पर ही धर्म-रक्षा-सम्बन्धी सिद्धान्तों में परिवर्तन आरम्भ हो गए।

विश्वामित्र की कठोर तपस्या का बहुत बड़ा परिणाम निकला। हज़ारों वर्ष से आर्यों के विचार में भय और प्रेम का संघर्ष चलता चला आ रहा था। भय से वे दूर हटते अवश्य आ रहे थे, पर विश्वामित्र के काल तक पूर्णतया उससे दूर नहीं हो पाए थे। आर्य भय की भावना से ही वरुण जैसे देवताओं से डरते थे और उनके सामने नर-बलि तक चढ़ाते थे। विश्वामित्र के प्रयत्नों से वह भय की भावना दूर होने लगी। भय का स्थान अब मानवीय श्रद्धा लेने लगी। रामायण-काल में हम इस श्रद्धा की भावना को ही आर्यों के आदर्श में पूर्णरूप से अधिष्ठित हो गया पाते हैं। इस काल में ही हम विश्वामित्र की तपस्या पूर्णरूप से सफल हुई देखते हैं।

आर्य मनोवृत्ति के दारुण नरमेध से सदा के लिए हटकर प्रेम और श्रद्धा की ओर अग्रसर होने का इतिहास रामायण में अत्यंत रोचक ढंग से चित्रित है। वाल्मीकि मुनि अपने महाकाव्य के उपक्रम के समय तमसातट पर जा निकले हैं। उनके सामने का दृश्य ही आनन्दोत्सव का है। नदी खिलखिल कर हँस रही है। मौन खड़े वृक्ष मुसकुरा रहे हैं। मुनि ने अपने पास ही क्रौंच पक्षियों के एक जोड़े

को बड़े आनन्द से विचरण करते देखा। इसी समय एक निषाद ने आकर उस जोड़े में से एक—नर पक्षी को मुनि के देखते देखते ही अपने बाण का निशाना बनाया। वह पक्षी खून से लथपथ हो पृथ्वी पर गिर पड़ा और पंख फड़फड़ाता हुआ तड़पने लगा। अपने पति की हत्या देख क्रौंची करुणा-भरे स्वर में चीख उठी। मुनि का ध्यान उसी ओर खिंचा रहा। अपने सामने के दृश्य ने उनके चित्त में नैसर्गिकी करुणा का स्रोत प्रवाहित कर दिया। उनके चित्त के सारे सुकोमल तार इस दृश्य से बलात् झंकृत हो उठे। अकस्मात् उनके मुँह से सम-अक्षर-युक्त चार पदों से मंडित श्लोक निकल पड़ा—

मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः।
यत् क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्॥

'निषाद! तुझे कभी भी शाश्वत शान्ति नहीं मिलेगी क्योंकि तू ने इस क्रौञ्च के जोड़े में से एक की, जो काम से मोहित हो रहा था, बिना किसी अपराध के हत्या कर डाली।

इस पद्य के उच्चारण करते ही ब्रह्मा ने मुनि के सामने उपस्थित हो कहा—'तुम्हारे आर्षचक्षु अब खुल गए हैं। तुम आदिकवि हो।'

कवि की यह प्रथम दृष्टि बड़ी ही विस्तृत थी। उस एक क्रौञ्च के वध में ही उन्हें अपने निजी जीवन और विचारों

के सिवा समूची आर्य-जाति में धर्मरक्षा के नाम पर प्रचलित भयमूलक कर्मकांड द्वारा की जानेवाली हत्याएँ दृष्टिगोचर हो गई थीं। उसे वे और अधिक पराश्रय नहीं दे सकते थे। उन्होंने श्रीरामचन्द्र के काल में प्रेम और श्रद्धा की भावनाओं की ओर अग्रसर हुई और पूर्णता प्राप्त करनेवाली आर्य-विचार-धारा का ही चित्र अपने महाकाव्यों में अंकित करना आरंभ किया। उसी समय से उनकी वह कीर्ति इस उच्च विचारधारा के प्रसार में बहुत बड़ी सहायक रहती आई है। भय को भूलकर प्रेम और श्रद्धा का जिसमें समावेश हो उस ढंग की धर्मरक्षा का चित्र सर्वप्रथम अंकित करने तथा उसे अमर बना देने का श्रेय आदिकवि वाल्मीकि को ही है।

आदिकवि

रामायण से ही पता चलता है कि जिस काल की घटनाओं का उसमें उल्लेख है उसी काल में उसके रचयिता वाल्मीकि मुनि हुए थे। रामचन्द्र के वनवास के समय वे चित्रकूट पर्वत पर रहते थे। उनके आश्रम में राम, लक्ष्मण और सीता के जाने का भी वर्णन अयोध्याकांड में आया है। इससे मालूम पड़ता है कि अपने महाकाव्य की मुख्य नायिका और नायकों को प्रत्यक्ष देखने का भी उन्हें अवसर मिला था। इससे कवि उनका चरित्र वर्णन करने के समय यथार्थता के अधिक निकट आ पाने में समर्थ हुए होंगे। पर यथार्थ घटनावली का सिर्फ उल्लेख कर देना ही वाल्मीकि की विशेषता नहीं है।

हमारे यहाँ के प्राचीन विचारकों के अनुसार वस्तुतत्व के दर्शन होने से ऋषित्व की प्राप्ति हो जाती है, परंतु जब तक वह अपने अनुभूत वस्तुतत्व को शब्दों द्वारा चित्रित नहीं

कर देता वह 'कवि' नहीं कहला सकता। वाल्मीकि हमारे आदि-महाकवि हो गए हैं। इसका कारण यह है कि उनकी कल्पना में 'दर्शन' के साथ 'वर्णना' का बड़ा ही मनोरम सामंजस्य है। उनकी उस वर्णना का क्षेत्र भी बड़ा ही विशाल है।

वाल्मीकि मुनि को अपने निजी जीवन में ही भले से भले और बुरे से बुरे सब प्रकार के अनुभव हो चुके थे। उनके अपने निजी जीवन की घटनाएँ ही कम रोमांचक नहीं हैं। कहा जाता है कि मुनि होने के पहले वे डाकू रत्नाकर थे। वे कामिनी-कांचन में ही आसक्त रहते थे। दूसरों को पीड़ा पहुँचाने और उनका धन लूटने में ही उन्हें आनंद मिलता था। इसी अभ्यास-वश उन्होंने सप्तर्षियों को भी लूटने की चेष्टा की। पर उनके संग के प्रभाव से रत्नाकर के ज्ञानचक्षु खुल गए। उनकी दस्युता ऋषियों के प्राणों पर आघात करने जा कर स्वयं ही साधुता में परिणत हो गई। फिर तो वे संसार को भूल गए। उन्हें अपनी देह की भी स्मृति जाती रही। पूर्व-जीवन के संस्कारों के साथ-साथ उनकी याद भी मिट गई। रत्नाकर डाकू वाल्मीकि मुनि बन गया।

डाकू से लेकर मुनि तक का जीवन व्यतीत किए रहने के कारण उन्हें मानव-जीवन के सब प्रकार के अनुभवों का पूरा-पूरा ज्ञान था। उन्हीं अनुभवों के आधार पर वे

अपने युग में चलने वाले महान परिवर्तनकारी लहरों को भी पहचान सके थे और उनका ठीक ठीक विस्तृत वृत्तांत वर्णन कर पाने में भी समर्थ हुए थे। दूसरे शब्दों में—अपने निजी जीवन के अनुभवो ने ही वाल्मीकि के लिए महाकवि बन जाने के सब साधन इकट्ठे कर दिए थे; साथ ही उनका रचा महाकाव्य जिस काल में आदिकवि हुए उसका अमर संदेश बन गया।

उस काल की विशेषताओं में एक आर्यों के विचार में चलनेवाला त्याग और भोग का संघर्ष था। स्वयं वाल्मीकि ने भी इसका अपने निजी जीवन में अनुभव किया था। उसी अनुभव का वृहत्तर स्वरूप उन्होंने आर्य और आर्येतर जातियो के बीच देखा था। आर्य स्वभावतः त्याग को ही महत्व देते और दक्षिण की आर्येतर जातियाँ प्रधानतः भोग को ही श्रेयस्कर मानती थीं। वाल्मीकि के वर्णनानुसार दक्षिण की कई आर्येतर जातियाँ भौतिक सभ्यता में आर्यों की अपेक्षा अधिक उन्नति कर चुकी थीं, पर भोग को ही अपना प्रधान लक्ष्य बनाए रखने के कारण जहाँ तक उच्च मानवीय विचारों का सम्बन्ध था वे बहुत अधिक उन्नति नहीं कर सकीं। दोनों जातियों के बीच संघर्ष चलने पर आखिरी विजय मानवीय विचारों के पक्षवालो की ही हुई। वाल्मीकि मुनि ने स्वयं भी बहुत काल तक संघर्ष करते रहने के बाद

अपनी आर्योचित उत्कट त्याग-भावना को ही विजयी होता देखा था।

आर्यों के सब आदर्श और अपने काल के वास्तविक तथा विचार-जगत् से सम्बन्ध रखने वाले सब तरह के संघर्ष का वर्णन वाल्मीकि मुनि ने कहानी के रूप में ही चित्रित किया है। उनके वर्णन में मुख्य चरित्रों के साथ साथ सामान्य व्यक्ति और पदार्थों के अनेकानेक चित्र आते हैं। उन अति सामान्य चित्रों के आँकते समय वाल्मीकि महान शिल्पी होने का परिचय देते हैं। उनके चित्र की उर्मिला सारे महाकाव्य में मुश्किल से एकाध बार झाँकी लगाती है, पर फिर भी वह हमारे मन पर अपनी अमिट छाप डाल जाती है। सारे महाकाव्य में हम फिर से उसके लौटने की प्रतीक्षा करते रहते हैं, पर वह हमें दिखाई नहीं देती। उस सौन्दर्य की उस भाँति उपेक्षा होता देख हम मन ही मन आदिकवि को भयानक निर्मम ठहराने लगते हैं। पर वास्तव में उर्मिला अपनी क्षणिक झाँकी द्वारा रामायण के मुख्य पात्रों की सौन्दर्य-वृद्धि कर स्वयं उसी में विलीन हो जाती है।

रामायण के पौधे और वृक्षों की तो बात ही क्या, पत्थर तक जीवित जागृत हैं। उनका वर्णन आने पर वे हमें प्राण-भरे जीवों-से खड़े दिखाई देते हैं। कहीं वे सारी

मानवीय लीलाओं के साक्षी-स्वरूप मूक रहते हैं और कहीं वे भी भावों के आवेश में आ जाने पर अपनी निजी भाषा में बोलने लगते हैं। इन सब का एकमात्र उद्देश्य रामायण के मुख्य पात्रों की सौन्दर्य-वृद्धि करना रहता है, उनकी पूर्णता में ही वे अपनी पूर्णता अनुभव करते हैं।

कुश से साधारण तृण को भी वाल्मीकि ने मानव के सुख-दुख से सहानुभूति रखना चित्रित किया है। निषादराज उनकी ओर दिखा भरत से कहते हैं—'यही तो वह इंगुदी का पेड़ है और यही वह तृणशय्या है, इसी पर उस रात सीता और राम सोए थे।' भरत सावधानी से उस शय्या का निरीक्षण कर कहते हैं—'यह कुश उन्हीं के शरीर से मर्दन किए हुए हैं।......मेरे भाई की यह सेज है। जैसे जैसे उन्होंने करवटें बदली हैं वैसे ही वैसे कड़ी भूमि पर बिछे तृण उनके शरीर से दबकर कुचल गए हैं।......गहने पहिने हुए सीता सोई थी, इसी से तो जहाँ तहाँ सोने के दाने पड़े दीख पड़ते हैं।......यहाँ पर सीता की ओढ़नी उलझ गई थी क्योंकि यहाँ रेशम के धागे उलझे हैं।' इस वर्णन में हमें कुश भी अपनी मूक वाणी में बोलते दीखते हैं। राम के कष्ट से कुश भी पीड़ित हो कुचल गए हैं। सीता के वस्त्र पकड़ उसे उलझा कर वे ही कुश उन्हें रोक रखने की चेष्टा करते हैं।

वाल्मीकि की इन वर्णनाओं में ही हमें उनकी कवि-प्रतिभा का अद्भुत सौन्दर्यमय चमत्कार दिखाई देता है। इनसे ही हमें उनके प्रकृति से ऐक्य रखने का वास्तविक परिचय मिलता है।

प्रकृति से ऐक्य

प्रकृति की वर्णना में वाल्मीकि स्वयं उसके साथ एक हो जाते हैं। इस क्षेत्र में वे वास्तव में ही अपना नाम चरितार्थ करते हैं। सौन्दर्योपासना में विभोर हुए बिना रामायण के ढंग का वर्णन कर पाना संभव नहीं हो सकता। इस क्षेत्र में हम वाल्मीकि का संसार मनुष्यों की दुनिया से कहीं अधिक विस्तृत पाते हैं। उनका मृग और पक्षियों तक से भाईचारा चलता है। वृक्ष उनके साथ रोते और हँसते हैं। नदी, पर्वत और समुद्र मानव-प्रकृति से घनिष्ठ बंधुत्व स्थापित किए रहते हैं।

वाल्मीकि प्रकृति की छोटी-से-छोटी या बड़ी-से-बड़ी किसी भी कीर्ति की अवहेला नहीं करते; बल्कि प्रकृति की सुन्दर कीर्तियों से ही, उन्हें यथार्थ रूप में प्रस्थापित कर, वे अपना महाकाव्य सजाते हैं। आदिकवि के इस कौशल से ही उनके द्वारा निर्माण किया गया हमारे देश का यह सादे

चार हजार वर्ष पुराना चित्र अद्भुत सौन्दर्यमय और परिपूर्ण बन पाया है।

भरद्वाज मुनि के आश्रम में पहुँचने पर भरतजी उनसे उनके शरीर, अग्नि और शिष्य के साथ साथ मृग और पक्षियों के विषय में भी कुशल-प्रश्न पूछते हैं। इसीसे पता चलता है कि मुनियों के आश्रम में मृग और पक्षी कितने महत्व के अंग गिने जाते थे। उस मनोहर वर्णन की आड़ में शायद वाल्मीकि स्वयं अपने ही आश्रम के मृग और पक्षियों की स्मृति छोड़ गए हैं।

घोड़ों को भी उन्होंने कम भावुक चित्रित नहीं किया है। राम के वन चले जाने पर पीछे लौटनेवाले थके घोड़े रास्ते में अड़ जाते हैं और गरम-गरम आँसू गिराने लगते हैं।

अयोध्या-राज्य के सब तरह के प्राणियों के साथ साथ जलाशय तथा वृक्ष भी कम दुखी नहीं होते—अपिवृक्षाः परिम्लानाः सपुष्पांकुर कोरकाः; 'राम के वियोग में वृक्षों के फूल, अंकुर और कली कुम्हला जाते हैं।' वन उपवन के वृक्षों के पत्ते मुरझा जाते हैं। कमल सूख रहे हैं। उनके पत्ते राम-वियोग से अतिशय ग्लानि उत्पन्न होने के कारण जल के भीतर डूब गए हैं। जल में उत्पन्न होनेवाले तथा पृथ्वी पर उत्पन्न होनेवाले पुष्पों में न तो पहले जैसी

गंध रह गई और न फलों में पहले जैसा स्वाद ही रहा। नदियों, तलैयों और तालाबों के जल सूख रहे हैं। मछलियों और पक्षियो ने पानी में घूमना-फिरना छोड़ दिया है। जीव-जंतुओं ने चलना बन्द कर दिया है और हिंस्र पशु अथवा सदैव विचरण करनेवाले हाथी अब वनों में घूमते देख नहीं पड़ते। राम-वियोग के शोक से वन निःशब्द हो गए हैं। पक्षियों के चुपचाप घोंसलों मे बैठे रहने से उपवनो में भी सन्नाटा छाया हुआ है।

पर जहाँ यह वियोग नहीं है वहाँ की शोभा और ही ढंग की है। वहाँ वसंत का आगमन हुआ है। पलाश वृक्षों ने पुष्पों की लाल-लाल मालाएँ धारण कर ली हैं। कितने वृक्ष हाथियो के रंग-बिरंगे झूल की तरह जान पड़ते हैं। बादल जैसे पानी बरसाते हैं, वनों के ये वृक्ष वैसे ही पुष्पो की वर्षा करते हैं। पवन चलने पर वे इस प्रकार हिलते हैं और वहाँ इस प्रकार का रव सुनाई देता है मानो वे वृक्ष ही नृत्य और गान कर रहे हों। उनके चारो ओर खड़े कनेर वृक्ष सुवर्ण के आभूषण पहिने पीतांबर धारण किए मनुष्यों से खड़े हैं। उधर पंपातट के वृक्षों की भी डालियाँ हिल रही हैं; जिस प्रकार मद से मतवाली सुन्दरियाँ अपने पतियों को आलिंगन करती हैं उसी प्रकार लताएँ उन डालियो को आलिंगन कर रही हैं। कहीं कहीं पुष्पशय्या भी लगी है। ऊपर से पर्वत-

शिखरों पर विविध-रंगों के पुष्पों से बनी रंग-बिरंगी चादर बिछी है।

पहाड़ भी कम सजीव नहीं हैं। चित्रकूट के कई शृंग चाँदी-से चमकीले तथा सफ़ेद हैं, कई रक्त की तरह लाल, कई पीले वा मजीठ के रंग के, और कई उत्तम मणियों जैसे प्रभायुक्त हैं। रात के समय इस पर्वत पर उत्पन्न हजारों जड़ी-बूटियाँ अग्निशिखा की तरह प्रकाशमान होती हैं। पवन से कंपित वृक्षों के हिलने से वह पर्वत भी नृत्य करता जान पड़ता है। उन वृक्षों से जो पुष्प गिरते हैं वे असल में चित्रकूट पर्वत द्वारा नदी को दी जाने वाली पुष्पांजलि रहते हैं। माल्यवान पर्वत ने भी मेघों का काला मृगचर्म धारण कर लिया है। नदी की धारा उसका यज्ञोपवीत है। इस वेष में वह ऐसा दीखता है मानों उसने अध्ययन करना आरंभ कर दिया है।

पर राम का ध्यान उन पर नहीं टिकता। उनकी दृष्टि पहाड़ों के ऊपर वाले आकाश पर पड़ती है। राम के अपने हृदय में जानकी के बिछोह से जो घाव है वे आकाश में भी वही देख सकते हैं—'आकाश' ने संध्या के लाल रंग से रंजित सफेद किनारेवाले रसीले मेघरूप कपड़े के टुकड़ों से अपने घावों पर पट्टियाँ बाँध रखी हैं।' राम को काले मेघों में चमकती हुई बिजली रावण की गोद में छटपटाती तपस्विनी वैदेही जान पड़ती है।

लंका-स्थित अरिष्ट पर्वत हनुमान जी को और एक ढंग का जँचता है। उसके शिखरों पर लटके मेघ दुपट्टे की तरह जान पड़ते थे। उस पर सूर्य की किरणें गिर कर प्रेम-पूर्वक उस पर्वत को नींद से जगा रही थीं। थोड़ी देर बाद विविध धातुओं से मंडित वह पर्वत अपने नेत्र खोले देखने सा लगा। झरनों की जलधार से ऐसा शब्द हो रहा था मानो पर्वत अध्ययन कर रहा हो। नदियों के कलकल में उस पर्वत का गान सुनाई दे रहा था। उस पर जो बड़े बड़े देवदारु वृक्ष थे वे ऐसे जान पड़ते थे मानो पर्वत ऊपर की ओर भुजा उठाए खड़ा हो। वायु से जब वहाँ के हरे हरे वृक्ष डोलते थे तो वह पर्वत काँपता हुआ सा जान पड़ता था। पोले बाँसों में जब वायु भरती थी तब उनसे ऐसा शब्द निकलता मानों पर्वत बाँसुरी बजा रहा हो। कुहरा छा जाने पर वह पर्वत ध्यानावस्थित हो जाता था।

लंका के वैसे ही एक पर्वत से निकलकर एक नदी बह रही थी। हनुमानजी को वैसी जान पड़ी मानों कोई प्रियतमा कामिनी कुपित हो अपने प्रियतम की गोद त्याग भूमि पर गिर पड़ी हो। उस नदी के तीरवर्ती वृक्षों की डालियाँ जल में डूब उसकी प्यारी सखी सहेलियों की भाँति उस कुपित मानिनी कामिनी को जो अपने प्रियतम को त्याग अन्यत्र जाना चाहती थी मनाकर रोकने की चेष्टा कर रही

थीं। कुछ दूर जाकर नदी का जल पुनः पीछे आ रहा था। वह रूठी कामिनी असल में ही प्रसन्न हो प्रियतम के समीप लौटी आ रही थी।

जिस गंगा के पड़ोस में वाल्मीकि मुनि का आश्रम था वे भी कम मनोरम नहीं हैं। उनका जल जहाँ टकराता है वहाँ ऐसा शब्द होता है मानों गंगा अट्टहास कर रही हों। जहाँ धारा का वेग निर्मल फेन से भूषित होता है वहाँ गंगा हँसती दिखाई देती हैं। ऊँची नीची चट्टानों पर का जल युवती गंगा की वेणी समान लगता है। जहाँ अनेक प्रकार के पुष्प-पराग से जल का रंग लाल हो गया है वहाँ का स्थिर जल ऐसा जान पड़ता है मानों कोई स्त्री लाल रंग की साड़ी पहने खड़ी है। जहाँ जल की धार के हर हर शब्द से वे वनों को गुँजाती हैं वहाँ गंगा ऐसी सुशोभित होती हैं मानों कोई स्त्री बड़े यत्नपूर्वक उत्तम आभूषणों से अपना शृंगार किए हो।

समुद्र का सौन्दर्य और ही ढंग का है। संध्या के समय जब उसमें फेन आता था तब ऐसा जान पड़ता था मानों वह हँस रहा है। जब उसकी लहरें लहराती थीं तो उसी में उसका नृत्य चलता था। चंद्रमा के उदय होने पर समुद्र बढ़ता और उसके प्रतिबिंबों से भर जाता था। उस समय ऐसा जान पड़ता था मानों महासागर अपनी तरंगों को हाथ बना फेन का

चंदन रगड़ रहा है और चंद्रमा अपनी किरणों के हाथ से दिशा सुन्दरियों के अंगों में वह चंदन लेप रहा है। उस समय आकाश और समुद्र एक दूसरे में मिले हुए होते थे।

प्रकृति से इस ढंग का ऐक्य प्राप्त कर लेना कविकुल-गुरु वाल्मीकि की ही विशेषता है। वे आदिकवि ही अपने बाद हमारे देश में होने वाले कवियों को सब ढंग की वर्णना के साथ-साथ प्राकृतिक दृश्यों के अद्भुत वर्णन-कला के संबंध में पथ-प्रदर्शक और प्रेरणा देनेवाले हुए हैं।

रामायण-कालीन भारत

वाल्मीकि वास्तव में महान कलाकार थे। लौकिक चित्रों के खयाल से हम उन्हें आर्य जाति का प्रथम महान चित्रकार कह सकते हैं। आज कल के प्रचलित अर्थ में वे 'इतिहास-कार' नहीं थे। उनके काल में जो घटता था उसकी अविकल नकल रख जाना उनका उद्देश भी नहीं था। उनके अपने हृदय पर अपने काल की जो छाप अंकित हुई थी, जिसे उन्होंने स्वयं भली भाँति अनुभव किया था, उसी को अपने महाकाव्य की ध्वनि और शब्दों में व्यक्त कर उन्होंने हमें अनुभवगम्य कराने की चेष्टा की है। इस दृष्टि से रामायण का नाम 'इतिहास' न देकर आज से साढ़े चार हजार वर्ष पूर्व का हमारे देश का एक विराट चित्र देना ही अधिक उपयुक्त होगा।

ऐसी परिस्थिति में रामायण में कल्पना के रंग का समावेश रहना भी स्वाभाविक दीखता है। वाल्मीकि ने

अपने समय में आर्यों को ज्ञात कितने वर्णनों को अपनी रुचि अनुसार रख लिया है, कितनों को उन्होंने छाँट दिया है और कितनों पर उन्होंने रंग चढ़ा कर और एक रूप में सजा दिया है। कितनी घटनाओं के काल में भी हेरफेर हुआ है। आर्यों के जितने आदर्श गुण होने चाहिए उन्होंने राम और सीता में दिखलाने की चेष्टा की है। पर आर्यों का उन दिनों दक्षिण की जिन जातियों से गहरा संघर्ष चलता था उन्हें मनुष्यों की कोटि से भिन्न—राक्षस और बानरों की श्रेणी का चित्रित किया है। जब हम कल्पना की इस रंगत तथा काव्य की दृष्टि से उपयोगी पर ऐतिहासिक दृष्टि से भ्रांतिमूलक वर्णना को हटा कर रामायण का अध्ययन करते हैं तभी हमें इस महाकाव्य में उस काल के भारत का सीधा-सादा वृत्तांत मिलने लगता है। पर उन वृत्तांतों के जाँच करने का भार शुष्क ऐतिहासिक पर छोड़ देने पर हम धोखा खाएँगे, क्योंकि कवि के ज्ञान-विश्वास के अनुसार ही रामायण में वर्णन की गई कथाएँ सत्य हैं।

वाल्मीकि के काल में अयोध्या का प्रदेश कोशल कहलाने लग चुका था। उस समय तक भारतवर्ष के जिन सब प्रदेशों में आर्यों का निवास था उनमें कोशल ही सबसे उन्नति पर था। उसी की वर्णना से वाल्मीकि ने अपना महाकाव्य आरंभ करते हुए कहा है—

'कोशल नाम से प्रसिद्ध एक बहुत बड़ा देश है जो सरयू नदी के किनारे बसा है। वहाँ के लोग धन-धान्य से सपन्न और सुखी हैं। उसी देश में अयोध्या नगरी है जो समस्त संसार में विख्यात है। वह पुरी स्वयं मनु महाराज द्वारा बसाई गई थी। वह बारह योजन लंबी और तीन योजन चौड़ी थी। अलग-अलग बनी हुई बड़ी-बड़ी सड़कें और महान राजमार्ग उसकी शोभा बढ़ा रहे थे। उसके चारो ओर दुर्गम एवं गहरी खाइयाँ बनी थीं, जिनके कारण किसी दूसरे के लिए उस नगरी में प्रवेश पाना बहुत ही कठिन था। वह सब प्रकार के रत्नों से भरी-पूरी और विमानाकार गृहों से सुशोभित थी। वहाँ अस्त्र-विद्या में प्रवीण और शीघ्रता-पूर्वक हाथ चलाने वाले हजारों महारथी योद्धा बसाए गए थे जो शब्दवेधी बाण चलाना भी जानते थे।'.....'उस पुरी के चारो ओर आठ-आठ कोस तक अग्नि के समान तेजस्वी सैनिक, भिन्न-भिन्न देशों में उत्पन्न हुए घोड़े और पर्वताकार मतवाले गजराज भरे रहते थे; अतः कोई भी शत्रु उस पर चढ़ाई करके युद्ध करने का साहस नहीं करता था। इसलिए उसका अयोध्या नाम सार्थक हो गया था।'

चित्रकूट पर्वत पर निवास करते समय रामचन्द्र भी उस नगरी के सबध में भरत से पूछते हैं—'तुम उस अयोध्या की तो भलीभाँति रक्षा करते हो, जो हमारे पिता पितामहादि

वीर पुरुषों की भोगी हुई, अपने नाम को चरितार्थ करनेवाली दृढ़ द्वारों वाली, हाथी घोड़े और रथों से भरी हुई, वर्णानुसार धर्म-कार्यों में सदा तत्पर रहनेवाले ब्राह्मणों, क्षत्रियों और वैश्यों से युक्त, जितेन्द्रिय और महा उत्साही हजारों आर्य-जनों से सुशोभित, विविध आकार-प्रकार के भवनों से पूर्ण, विद्वज्जनों से भरी है और जो दिन-दिन उन्नतावस्था की ओर अग्रसर हो रही है। जिस देश में अनेक यज्ञानुष्ठान हो चुके हैं, जहाँ सुप्रतिष्ठित लोग रहते हैं, जो अनेक देवालयों, पौसलों और तड़ागों से शोभित है, जो हर्षित स्त्री-पुरुषों से और सामाजिक उत्सवों से शोभायमान है, जहाँ तिल बराबर भी जमीन बिना जुती नहीं है, जहाँ हाथी-घोड़े, गाय-बैल आदि पशु भरे पड़े हैं, जहाँ एक ईति (अकाल) का कभी भय नहीं होता, जहाँ के लोग मेघजल के ही ऊपर निर्भर नहीं हैं (सरयू का तटवर्ती देश होने के कारण खेतों की सिंचाई के लिए वर्षाजल पर ही किसान निर्भर नहीं हैं), जो रमणीक है, जहाँ हिंसक पशु नहीं हैं, जो चोरी आदि सब भयों से रहित है, जो नाना खानों से शोभित है, जहाँ पापीजन एक भी नहीं हैं, जो उत्तरोत्तर उन्नति प्राप्त है तथा जो मेरे पूर्वपुरुषों से सुरक्षित है, वह देश तो सुखी है ?'

उस अयोध्या के वैभव का कुछ परिचय वहाँ के राजप्रासाद का भरत द्वारा किए गए वर्णन से मिलता है—

'जो राम सदा ही राजाओं के सोने योग्य केले की छाल के बने अति कोमल बिछौने से युक्त सेजों पर सोते रहे हैं, वे भूमि पर सोते होंगे। जिस सातखाने राजभवन की चौखंडी की भूमि सोने और चाँदी की बनी है, जिस पर अच्छे-अच्छे रंग-बिरंगे ऊनी गलीचे बिछे हैं, जिन पर पुष्पों से चित्र-विचित्र रचनाएँ की जाती हैं और जो शयनगृह चंदन और अगर की सुगंध से सुवासित है, जो सफेद उजले बादल की तरह दीख पड़ता है, जहाँ तोता-मैना आदि पक्षी बोलते हैं, जो राजभवनों में सबसे श्रेष्ठ है, जहाँ पर आवश्यकतानुसार ठंढक पहुँचाई जा सकती है अथवा जिसमें सदा शीतल सुगंधित पवन का संचार हुआ करता है, जिसकी ऊँची दीवारें सोने-चाँदी के काम से खचित होने के कारण मेरु पर्वत जैसी जान पड़ती हैं—ऐसे उत्तम शयनागार में सोने वाले राम जो मधुरगान और मृदंगादि बाजों के शब्द से तथा सुन्दर स्त्रियों की पायजेब, नूपुर आदि गहनों के छुमछुम शब्द से जगाए जाते थे और जगाने के बाद जिनकी अनेक सूत, मागध और बंदीगण अनेक प्रकार की सुन्दर गाथाओं और स्तुति से वंदना करते थे, वे जमीन पर सोवें?' इस वर्णन से पता चलता है कि रामायण-काल में उत्तर भारत का सबसे संपन्न नगर अयोध्या ही था।

दक्षिण भारत में उस समय तक उसके वायव्य अंचल के

सिवा और कहीं आर्यों की बस्तियाँ स्थापित नहीं हुई थीं। सारे दक्षिण के अधिकाश में दडक वन फैला हुआ था। वहाँ पर सिर्फ दो सभ्य और समुन्नत बस्तियों—जनस्थान और किष्किधा का जिक्र रामायण मे आया है। गोदावरी का निचला काँठा ही उस समय जनस्थान कहलाता था। उस प्रदेश पर रामायण-काल में राक्षसों का अधिकार था। सभवतः यह बस्ती लका के प्रवासी लोगों की थी। लका में उन दिनो राक्षसों का बहुत ही समुन्नत राज्य था। सिंहलद्वीप-स्थित पोलोननरुआ—पौलस्त्यनगर लका की प्राचीन राजधानी के स्थान पर बसी कही जाती है। किष्किधा का सूचक आधुनिक कर्णाटक में हैदराबाद-रियासत का अनगुडी स्थान माना जाता है। वहाँ पर रामायणकाल में बानरो का राज्य था। दक्षिण की यह राक्षस और वानर वास्तव में दो मनुष्य-जातियाँ थीं।

दक्षिण की इन जातियों से आर्यों का परिचय रामायण-काल के पहले ही स्थापित हो चुका था। अगस्त्य, परशुराम आदि अनेक मुनि और उनके वशज उन दक्षिणी लोगो से मेलजोल पैदा कर चुके थे। आर्यों का दक्षिणी जातियों से विवाह-सबध भी चालू हो गया था। पर इतना होते हुए भी उस समय तक आर्यों के सुदूर दक्षिण तक अपना प्रसार कर पाने का रास्ता उस समय तक नहीं बन पाया था।

रामचन्द्र ने ही पहले-पहल अपने साहसिक प्रयाण द्वारा दक्षिण का वह रास्ता आर्यों के लिए खोल दिया। वाल्मीकि द्वारा रामचन्द्र के इस प्रयाण का वर्णन वास्तव में आर्यों के दक्षिण का रास्ता खोलने का रोचक ऐतिहासिक वृत्तान्त है। चित्रकूट से चलकर रामचन्द्र गोदावरी के किनारे पंचवटी (नासिक) पहुँचे। वहाँ से वे गोदावरी के किनारे-किनारे उसके निचले काँठे—जनस्थान में जा निकले। वहाँ ही उनकी राक्षसों से छेड़छाड़ हो गई। सीता का वहीं हरण कर रावण उन्हें लंका ले गया। रावण सभवत: राक्षसो की भाषा में राजा का द्योतक था। जो रावण सीता को हर ले गया उसका सस्कृत नाम दशग्रीव था। उसे ऋचाओं का ज्ञाता और प्रकांड विद्वान बतलाया गया है, इससे पता चलता है कि उस समय तक आर्य-संस्कृति और वैदिक भाषा सिलोन तक पहुँच चुकी थी।

राम-लक्ष्मण सीता की खोज करते आगे बढ़े। पपा-सरोवर पर उनकी सुग्रीव और उसके मंत्री हनुमान से भेंट हुई। सुग्रीव किष्किंधा के राजा बाली का निर्वासित भाई था। राम से सुग्रीव की मित्रता स्थापित हो गई। उन्होंने बाली को मार सुग्रीव को किष्किंधा का राजा बनाया।

उस समय दक्षिण भारत में किष्किंधा नगरी काफी उन्नति पर थी। रामायण-काल में वहाँ जिन वानरों का

राज्य रहना बतलाया गया है वे वास्तव में पशुओं, वनस्पतियों आदि की पूजा करने वाले तथा उनके चिन्ह से अपना शरीर आँकने वाले मनुष्य थे। जिस पशु वा वनस्पति का चिन्ह वे अपनी देह पर अंकित करते थे वे उसी नाम से पुकारे जाते थे। रामायण-काल की वानर, ऋक्ष, नाग आदि ऐसी ही जातियाँ थीं।

उन जातियों पर वैदिक संस्कृति की छाप काफी दूर तक पड चुकी थी। हनुमान से भेंट होने पर उनकी बातें सुन रामचन्द्र ने लक्ष्मण से कहा है—'जिस प्रकार की बातचीत इन्होंने हम से की है वैसी बातचीत ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद के जाने बिना कोई कर नहीं सकता। अवश्य ही इन्होंने सपूर्ण व्याकरण का अध्ययन किया है, क्योंकि इन्होंने इतनी बातें कहीं, किन्तु इनके मुख से एक भी बात अशुद्ध नहीं निकली।'

समृद्धि में भी किष्किधा कम नहीं थी। लक्ष्मण ने उसे रत्नखचित, शोभामयी, दिव्य पुष्पित रमणों से शोभित देखा था। वहाँ दूकानों पर रत्नों के ढेर लगे थे। बाजारों में भाँति-भाँति के माल बिक्री के लिए भरे पड़े थे। वहाँ का राजमार्ग चदन, अगर और कमल-पुष्प-पराग से सुगधित और मैरेय तथा मधु नाम की दो मदिराओं की सुगध से सुवासित था। उस मार्ग के अगल-बगल अगद, हनुमान,

नील आदि के भवन बड़े सुन्दर और दृढ़ बने थे। वे भवन सफेद मेघ की तरह चमकते और धनधान्य तथा सुंदरियों से शोभित थे। सुग्रीव का घर चूने की अस्तरकारी की चहारदीवारी के भीतर बना था। वह चहारदीवारी इतनी ऊँची थी कि उसके भीतर सहसा कोई जा नहीं सकता था। इस भवन की सफेद रंग की अटारियाँ हिमाच्छादित कैलाश-शिखर जैसी जान पड़ती थी। उसके भीतर सदा फला-फूला करनेवाले वृक्ष लगे थे। अतःपुर के भीतर जहाँ-तहाँ सोने-चाँदी के पलँग, अनेक प्रकार के बैठने के मंच (पीढ़े) जिन पर बढिया कीमती बिछौने बिछे थे, रखे हुए थे। रनवास से मधुर स्वर में ताल-लय से युक्त वीणा पर गाए जानेवाले गानों की ध्वनि सुनाई देती थी। सुग्रीव के नौकर-चाकर साफ़ सुथरी और बढ़िया पोशाक पहनते थे। औरतों के नूपुर, करधनी और आभूषणों का झकार लक्ष्मण को लज्जित करने के ढंग का था।

किष्किंधा-निवासी अपने समय के 'बाह्यजगत्' से भी भली भाँति परिचित थे। सीता की खोज में सुग्रीव ने जिन सब दिशाओं में अपने वानर भेजे थे उनके वर्णन से हमें उस काल के लोगों के भौगोलिक ज्ञान का पता चलता है। दिशाओं का हिसाब, जान पड़ता है, वाल्मीकि ने अपने निवास-स्थान को केन्द्र बना उनका उल्लेख किया है। पूर्व

दिशा में सुग्रीव ने भागीरथी गगा, रमणीक सरयू, कौशिकी, कालिन्दी यमुना, सोनभद्र, ब्रह्ममाल आदि नदियों के नाम बतलाए हैं। देशों में उसने विदेह, काशी, कोशल, मगध, महाग्राम, पुंड्र, वंग आदि के नाम गिनाए हैं। रेशम के व्यवसाय के लिए प्रसिद्ध नगर तथा किरातों के देश का भी उसने उल्लेख किया है। सात राज्यों से सुशाभित रत्नवान यवद्वीप के साथ कई टापुओं का विवरण बतला उसने सुवर्णमय उदयाचल का जिक्र किया है। यही पर्वत उसके पूर्वी अंचल के ज्ञान की सीमा है।

दक्षिण दिशा में जिन बंदरों को सुग्रीव ने रवाना किया उन्हें उसने गोदावरी, कृष्णवेणी, मेखल, विदर्भ, आंध्र, पुंड्र, चोल, पांड्य, केरल, कावेरी, ताम्रपर्णी आदि का पता बतला उसके आगे समुद्र होने का जिक्र किया है। उस समुद्र के उस पार उसने एक बड़े द्वीप में रावण का वासस्थान बतलाया है। इसके बाद भी दक्षिण समुद्र के कई पहाड़ और द्वीपों का वृत्तांत बतला उसने कहा—'इसके आगे पृथ्वी का अंत है।'

पश्चिम दिशा में उसने सौराष्ट्र, बाल्हीक, चंद्रचित्र, पश्चिम-वाहिनी नदियों, पश्चिम समुद्रतट पर के नारियल-वन, सिंधु-समुद्र-संगम आदि का वृत्तांत बतला अस्ताचल तक बंदरों को जाने का आदेश दिया है, और तब कहा है—

'इसके आगे का हाल सूर्य का प्रकाश न होने तथा भूभाग की मर्यादा का पता न होने के कारण मुझे नहीं मालूम।'

उत्तर दिशा को सुग्रीव ने हिमालय पर्वत से भूषित बतलाया है। उसने कुरु, मद्र, कंबोज, यवन, दरद के साथ-साथ कैलाश और चीन के भी नाम गिनाए हैं। फिर उसने कहा है कि 'बस, बानर लोग वहीं तक जा सकते हैं। उसके आगे न तो सूर्य का प्रकाश है और न आगे का स्थान पृथ्वी की सीमा के भीतर है। अतः इसके आगे क्या है सो मैं भी नहीं जानता।'

इस वर्णन से कम से कम इतना पता अवश्य लग जाता है कि प्रकृति ने हमारे देश की जो सीमा निर्धारित कर दी है उसके प्रत्येक अंचल से रामायण-काल के ही लोग भलीभाँति परिचित हो चुके थे। समुद्र-पार के कतिपय देश और टापुओं का भी उन्हें ज्ञान था। कम से कम वर्तमान सिंहल द्वीप से तो अवश्य ही उनकी जानकारी थी। वाल्मीकि के ही वर्णनानुसार लंका के वर्णन के सामने अयोध्या का वैभव भी बहुत फीका जँचने लगता है।

हनुमान जी ने लंका में अनेक प्रकार के घर देखे। उन घरों में कोई तो वज्र के आकार का और कोई अंकुश के आकार का बना हुआ था। उनमें हीरे के जड़ाव के झरोखे बने हुए थे। उन मेघ-सदृश घरों से उस रमणीय पुरी की

ऐसी शोभा हो रही थी जैसी मेघों से आकाश की होती है। राक्षसों के सुन्दर घरों में किसी की बनावट कमलाकार और किसी की स्वस्तिकाकार थी। नगर के बीच में सैनिकों की छावनी थी। सावधान रक्षक सैनिकों के हाथों में पैने शूल और वज्र थे। रावण के रनवास भवन का तोरणद्वार सुवर्ण का बना था। उस भवन के चारों ओर जल से भरी और कमलों से शोभित खाई थी। भवन के द्वार पर घोड़े हिनहिना रहे थे, उनमें जो आभूषण धारण किये थे उनकी झंकार भी हो रही थी। द्वार की शोभा बढ़ाने के लिए सफ़ेद बादल जैसे चार दाँतों वाले बड़े डीलडौल के सफ़ेद हाथी और अनेक प्रकार के मत्तमृग और पक्षी थे। रावण के भवन का परकोटा विशुद्ध उत्तम सुवर्ण का बना था और उसमें यथास्थान बड़े-बड़े मूल्यवान मोती और मणियों के नग जड़े थे। इसके अलावा वहाँ अनेक चित्र-विचित्र लतागृह, चित्रशालाएँ, क्रीड़ागृह तथा काठ के पहाड़ थे। वे घर कुबेर-भवन की तरह रमणीक थे। वे पृथ्वी पर उतरे स्वर्ग के समान कान्तिमान दीखते थे। विविध रत्नों से भरे होने के कारण वे घर पुष्पों और पुष्पपराग से पूर्ण पर्वत-शिखर जैसे जान पड़ते थे। राक्षसराज रावण का यह राजभवन श्रेष्ठ सुन्दरियों से ऐसा प्रकाशमान हो रहा था जैसे बिजलियों से मेघ की घटा प्रकाशित होती है।

हनुमानजी ने रावण के राजभवन में रखा पुष्पकविमान भी देखा था जिसमें बढ़िया सुवर्ण के बने झरोखे थे और जिसमें जगह-जगह रंग-बिरंगे बहुत-से रत्न जड़े थे। उसका एक भी भाग ऐसा न था जिसमें कुछ न कुछ विशेषता न थी। उसमें कृत्रिम प्रतिमाएँ भी रखी गई थीं। पुष्पक में जैसी कारीगरी की गई थी वैसी देवताओं के विमानों में भी देखने में नहीं आती थी।

रावण की शयनशाला भी अत्यंत रमणीक, बड़े स्वच्छ मणियों की सीढ़ियों से सुशोभित और सोने की बनी जालियों से युक्त थी। उसमें जहाँ-तहाँ चित्र सजाए गए थे तथा वह अनेक मणि के खंभों से विभूषित थी। इन खंभों में प्रायः सभी खंभे समान, सीधे और ऊँचे थे। उन पंख जैसे अत्यंत ऊँचे खंभों से मानों वह भवन आकाश में उड़ा-सा जाता था।

वाल्मीकि के इस वर्णन में अतिशयोक्ति भले ही हो, पर इतनी बात अवश्य स्पष्ट हो जाती है कि जहाँ तक भौतिक सभ्यता का संबंध है, कई क्षेत्रों में रावण की लंका अयोध्या से भी अधिक प्रगति कर चुकी थी।

रामायणकालीन अयोध्या से लेकर लंका तक भ्रमण कर आने पर हम इसी परिणाम पर पहुँचते हैं कि हमारे इतिहास में आज से-साढ़े चार हजार वर्ष पहले का भी वह समय था जब हमारा देश भौतिक दृष्टि से भी वैभव की बड़ी ऊँची सीमा तक पहुँच चुका था।

शासन-प्रणाली

रामायण के चित्र तत्कालीन शासन-प्रणाली, राजनैतिक शृंखला, सामाजिक व्यवस्था एवं धार्मिक-जीवन पर यथेष्ट प्रकाश डालते हैं। ये सब एक ही जीवन के अङ्ग माने जाते थे और इन सब का ही प्राण तथा नियंत्रकशक्ति 'धर्म' माना जाता था। वैदिक नियम, आचार-विचार के साथ-साथ इस 'धर्म' में आदमियों के अपने भीतरी सद्भावनाओं की प्रेरणा का भी समावेश रहता था।

रामायणकाल तक शासन-प्रणाली का स्वरूप पूर्णतया एक राजतंत्र बन चुका था, पर राजा के स्वेच्छाचारी बन पाने की गुंजायश नहीं थी। राजा दशरथ की जिस राज्यव्यवस्था का वर्णन वाल्मीकि ने किया है उससे पता चलता है कि वह उन दिनों समुन्नत तथा आदर्श मानी जाती थी। राज्यशासन का वास्तविक नियंत्रण 'मंत्रिपरिषद्' द्वारा होता था। इस परिषद् का प्रधान सदस्य पुरोहित होता था। रामायण में हम पुरोहित का स्थान बड़े महत्त्व का पाते हैं।

मंत्रियों की चर्चा करते हुए रामायण में कहा गया है कि राजा दशरथ के धृष्टि, जयत, विजय, सुराष्ट्र, राष्ट्रवर्धन, अकोप, धर्मपान और सुमत्र ऐसे मंत्री थे जो मंत्र के तत्त्व जाननेवाले और बाहरी चेष्टा देख कर ही मन के भाव समझ लेने वाले थे। इनके सिवा सुयज्ञ, जाबालि, कश्यप, गौतम, दीर्घायु, मार्कण्डेय और कात्यायन मुनि तथा राजा के परंपरागत ऋत्विज भी मंत्री का कार्य करते थे। वशिष्ठ और वामदेव उनके माननीय पुरोहित थे। इन सब मंत्रियों से अपने या शत्रु पक्ष के राजाओं की कोई भी बात छिपी नहीं रहती थी। उन्हें संधि और विग्रह के उपयोग और अवसर का अच्छी तरह ज्ञान था। वे राजकीय मंत्रणा गुप्त रखने में समर्थ और सूक्ष्म विषय का विचार करने में कुशल थे। नीतिशास्त्र में उनकी विशेष जानकारी थी।

मंत्रि-परिषद् के सिवा कई ऐसी समितियाँ भी उस काल में थीं जिनका महत्त्वपूर्ण अवसरों पर परामर्श के लिए एकत्र होना आवश्यक था। ऐसी समितियों में 'पौर' और 'जानपद' के नाम दिए गए हैं। ये संस्थाएँ वर्तमान अर्थ में संभवतः शासन सभा की द्योतक थीं। शासनप्रणाली एक राजतंत्र होने पर भी प्रजा के राज्यकार्य में हाथ बँटाने के अनेक प्रमाण दिए गए हैं। 'श्रेणी' और 'नैगम' जैसी कुछ अर्धराजनीतिक संस्थाएँ भी उस काल में थीं जिनके प्रतिनिधियों

को देश के शासन में सहयोग देने का अधिकार रहता था। विशेष अवसरों पर विचार-विमर्श करने के लिए राज्य के विभिन्न भागों से नागरिक आया करते थे। नए राजा वा युवराज के निर्वाचन में प्रजा की सम्मति की सबसे अधिक प्रधानता रहती थी। रामचन्द्र के राज्याभिषेक के अवसर पर अयोध्या में कोशल के नागरिकों की आम महती सभा हुई थी जिसमें सारी प्रजा ने राम के युवराज बनाए जाने के प्रश्न पर अपनी सम्मति घोषित की थी।

प्रचलित राजनीतिक शृंखला क़ायम रखना राजा के लिए अनिवार्य होता था। इसके सिवा कुछ वैसे लौकिक नियम भी थे जिनका पालन करना राजा का धर्म समझा जाता था। इन नियमों के भंग करने पर राजा को अराजकता और विप्लव का सामना करना पड़ता था।

अराजकता इस काल में आतंक-संचार करने वाली समझी जाती थी। राजा दशरथ का शरीरांत हो जाने पर मंत्रिमंडल के सामने बड़ी विकट समस्या आ गई थी। उस अवसर पर अराजकता के साथ अनिवार्य रूप से आनेवाले बहुत-से दुर्गुण गिनाए गये हैं। अयोध्या के मंत्रिगण विचार करते समय इसी नतीजे पर पहुँचे हैं कि अराजक राज्य नष्ट हो जाते हैं। इसके बहुत से कारण दिए गए हैं—'वैसे राज्य के किसान खेतों में बीज नहीं छिटकाते। वहाँ स्त्री अपने पति

के और पुत्र अपने पिता के वश में नहीं रहता। वैसे देश में धन नहीं रहने पाता और स्त्रियाँ व्यभिचारिणी हो जाती हैं। जब घर की स्त्री तक का ठिकाना नहीं तब वैसे देश में सत्य व्यवहार भी नहीं रह जाता। अराजक देश में प्रजाजन न तो सभा-समाज करते, न रमणीक बाग-बगीचा लगवाते और न पुण्य बढ़ानेवाले देवालय, धर्मशालाएँ आदि बनवाते हैं। उस देश की वृद्धि करनेवाले देवोत्सव भी नहीं होते और न तीर्थों पर यात्रियों के मेले आदि ही लगते हैं। न्याय वहाँ रह ही नहीं जाता, इससे धनी सुरक्षित नहीं रह सकते और न किसान, ग्वाले, गड़रिए आदि ही अपने घरों में किवाड़ खोल ठंढी हवा में सुख से सो सकते हैं। उस जनपद में दूर-देशी सौदागर बेचने का बहुत-सा माल ले निर्भय हो अथवा सकुशल यात्रा नहीं कर सकते। वैसे देश की बिना नायक की सेना रण में शत्रु पर विजय नहीं प्राप्त कर सकती। जैसे बिना जल की नदी, अथवा बिना घास-फूस का वन वा बिना चरवाहे की गौएँ होती हैं वैसा ही बिना राजा का राष्ट्र है। वहाँ कोई किसी का नहीं होता, मछलियों की तरह लोग आपस में एक दूसरे को मारकर खा जाते हैं।'

इन्हीं कारणों से अयोध्या के मंत्रियों के विचार से राजा ही सत्य, धर्म और कुलीनोचित कुलाचार का प्रवर्तक

ठहराया गया। उसे ही उन्होंने प्रजा का मा-बाप तथा उनका हितैषी माना है। पर वैसे राजा के कर्त्तव्य-परायण होने पर भी बहुत जोर दिया गया है। जो राजा प्रजा से कर का छठा अंश लेकर भी प्रजा की रक्षा नहीं करता उसे रामायण में बहुत बड़े पाप का भागी बतलाया गया है।

राजधर्म की चर्चा करते समय रामचन्द्र ने भी भरत से बहुत-से प्रश्न किए हैं—'जिस प्रकार स्त्रियाँ परस्त्रीगमन करनेवाले पुरुष को पतित समझ उसका अनादर करती हैं या जिस प्रकार यज्ञ करनेवाले यज्ञकर्म में प्रतित का अनादर करते हैं उस प्रकार कहीं अधिक कर लेने से प्रजा तुम्हारा अनादर तो नहीं करती?……तुम सेना को कार्यानुरूप भोजन और वेतन यथा समय देने में विलंब तो नहीं करते?……जब सच्चरित्र साधु लोग झूठे चोरी आदि अपवादों से दूषित हो विचारार्थ न्यायालय में उपस्थित किए जाते हैं तब तुम्हारे नीतिशास्त्रकुशल लोग उनसे जिरह कर सत्यासत्य का निर्णय किए बिना ही लालच में फँस उन्हें कहीं दंड तो नहीं दे देते? जो चोरी आदि करते समय पकड़ा गया और जिरह से जिसका चोरी करना सिद्ध हो चुका वह चोर कहीं घूस के लालच से छोड़ तो नहीं दिया जाता? धनी और गरीब का झगड़ा होने पर तुम्हारे अनुभवी सचिव लोभरहित हो दोनों का मुकदमा न्यायपूर्वक फ़ैसल करते

हैं कि नहीं ? क्योंकि झूठे दोषारोपण के लिए दंडित लोगों के नेत्रों से गिरे हुए आँसू उस राजा के—जो अपने शारीरिक सुख, ऐश-आराम के लिए राज्य करता है और न्याय की ओर ध्यान नहीं देता—पुत्रों और पशुओं का नाश कर डालते हैं।' अंत में रामचन्द्र ने राजधर्म का मूल उपदेश देते हुए कहा है कि राजा को उचित है कि वह अपने राज्य में बसने वालों की 'धर्म' से रक्षा करे।

रामायणकाल में न सिर्फ उत्तर-भारत में वल्कि सुदूर लंका में भी एक राजशासन-प्रणाली पूर्ण रूप से प्रस्थापित हो चुकी थी। पर यह प्रणाली जहाँ कहीं भी थी, विचार-स्वातंत्र्य का अधिकार लोगों को अवश्य ही प्राप्त था। रावण जैसे अहंकारी राजा को भी लोगों का यह अधिकार स्वीकार करना पड़ता था। उसके दरबार में न केवल विभीषण बल्कि माल्यवान् और कुंभकरण ने भी अपने-अपने दृष्टिकोण से रावण के आचरण की बड़ी आलोचना की है। कुंभकरण ने रावण को फटकार सुनाते हुए कहा है—'जिस प्रकार महापातकियों को शीघ्र नरक में गिरना पड़ता है उसी प्रकार सीताहरण-रूपी पापकर्म का फल तुम्हें शीघ्र मिल गया। यह पापकर्म करने के पहले तुमने विचार नहीं किया। केवल अपने बल के अहंकार से तुमने इस कुकर्म के दुष्परिणाम की ओर ध्यान नहीं दिया।……तुमने अपने हितैषियों की बातें

पसंद नहीं की। जो राजा नीति-शास्त्र का उल्लंघन न कर, मन्त्रियों के साथ परामर्श कर तथा अपने हितैषी मित्रों के साथ विचार कर किसी कार्य के करने न करने का निश्चय करता है, वही राजा नीतिवान कहलाता है।......धर्म, अर्थ और काम—इन तीनों में जो श्रेष्ठ धर्म है उसे जानकर भी जो धर्मानुसार आचरण नहीं करता, वह चाहे राजा हो अथवा राजा के सदृश कोई बड़ा आदमी हो, उसका बहुत-सा शास्त्र सुनना व्यर्थ है।'

इस वर्णन से पता चलता है कि शासन-संबंधी बातों में भी रामायण-काल में 'धर्म' को ही सबसे ऊँचा स्थान दिया जाता था। नीति के अनुसार चलने वाला धर्मरत राजा ही आदर्श राजा माना जाता था और उसी के द्वारा प्रजा को भी सब प्रकार से सुखी और संपन्न बने रहने की आशा रहती थी।

युद्ध-विधान

महाकाव्य वीर-रस-प्रधान हुआ करते हैं। युद्ध की पटभूमि पर ही कवि सर्व मानव का आंतरिक महान चित्र अंकित किया करते हैं। युद्ध की वर्णना द्वारा ही वे हमारी मनोभावना के साथ तरह-तरह का खेल खेलते हैं। लड़ाई जिन दो पक्षों में चलती है उनमें जो सचाई और उच्च मानवीय विचारों का पक्षपाती होता है उसके साथ हमारी स्वाभाविक सहानुभूति हो जाती है। दुष्ट पक्ष के शीघ्र ही विनाश की हम कामना करने लगते हैं। पर कवि एक-ब-एक वह विनाश नहीं ला देते। उन मौकों पर वे हमारी विवेक-शक्ति के साथ मनमाना खेल खेलते हैं। उस खेल में वे हमें यहाँ तक भुला देते हैं कि हम स्वयं अपने आप को उस युद्ध-चित्र का एक पात्र मानने लगते हैं। हम भी सचाई का पक्ष ले युद्ध करने लगते हैं। इसी सिलसिले में हम धीरे-धीरे उच्च विचारों की ओर अग्रसर होने लगते हैं। अपने भीतर के मलिन भावों

पर हम विजय प्राप्त करते जाते हैं और कवि की वर्णना हमें कुछ से कुछ बना डालती है। महाकाव्य की यह सौन्दर्य-पूर्ण शैली हमारे भीतर सत्य के प्रति अटूट प्रेम उत्पन्न कर देती है। वह वर्णना जब सत्य की विजय के साथ समाप्त होती है तो उसके साथ ही साथ हम भी अपनी निजी दुर्बलताओं पर अपने को विजयी अनुभव करने लगते हैं।

महाकाव्य के इन लक्षणों की दृष्टि से भी रामायण अद्वितीय ग्रंथ है। उसमें वर्णन किए गए युद्धघोष, सैनिकों के तर्जन तथा विजय-दुंदुभि के गर्जन हमारे भीतर उत्साह तथा स्फूर्ति का संचार कर देते हैं। साथ ही वे हमारे सामने उस काल का जीवित चित्र ला खड़ा करते हैं जब अस्त्र-शस्त्र का मुख्य उपयोग 'धर्म' की रक्षा में ही किया जाता था, युद्धनीति धर्मनीति से परिचालित होती थी और मानव वास्तव में ही अपने मानव होने का परिचय देते थे।

रामायण में हमें तत्कालीन अस्त्र-शस्त्र, सैनिक संगठन तथा युद्धनीति की जानकारी के लिए प्रचुर सामग्री मिलती है। इन्हीं से हमें आर्य तथा आर्येतर जातियों के बीच के भौतिक विकास तथा उनके बीच के विचार-पार्थक्य का भी पता चलता है।

अस्त्र-शस्त्रों के साथ-साथ उनके उपयोग करने का दायित्व बड़ा महत्त्व रखता था। उनसे काम लेने वाले से

मानवीय भावनाओं के रक्षक होने की उमीद की जाती थी। विचारों के साथ इस प्रकार गहरा संयोग रहने के ही कारण हम अस्त्रों का संचालन सीखने के समय उनके 'मंत्रयुक्त' किए जाने की बातें पाते हैं।

आर्यों के बीच रामायण-काल में अस्त्र-संबंधी मंत्रों की शिक्षा देने वालों में उस काल के महान् क्रान्तिकारी विश्वामित्र ही अग्रगण्य थे। उन्होंने ही रामचंद्र को युद्ध-विद्या सिखलाई थी। रामचंद्र जब सोलह वर्ष के हो रहे थे उसी समय विश्वामित्र उन्हें अपने साथ जंगल लेते चले गए थे। सबसे पहली विद्या सिखलाते समय विश्वामित्र ने रामचंद्र से कहा है—'यह मंत्र ग्रहण करो और मुझसे बला तथा अति-बला विद्याएँ सीख लो। इसके प्रभाव से तुम्हें कभी शारीरिक परिश्रम और मानसिक चिंता का शिकार नहीं होना पड़ेगा। ... ये विद्याएँ सब प्रकार के ज्ञान की जननी हैं।' विश्वामित्र के इस कथन से पता चलता है कि बला तथा अतिबला विद्याएँ मनुष्य की चित्त-वृत्तियों से संबंध रखती थीं।

विश्वामित्र ने रामचंद्र को वास्तविक अस्त्र प्रदान करते समय कहा था—'आज मैं तुम्हें सभी दिव्यास्त्र-प्रदान करता हूँ। मैं तुम्हें महान दिव्यास्त्र दंडचक्र, धर्मचक्र, कालचक्र, विष्णुचक्र तथा अत्यंत भयंकर ऐन्द्रचक्र दूँगा। शिव का

शूलवत नामक अस्त्र, इन्द्र का वज्रास्त्र, तथा ब्रह्माजी का ब्रह्मशिर-अस्त्र भी दूँगा। साथ ही ऐषीकाल तथा सबसे उत्तम ब्रह्मास्त्र भी दे रहा हूँ। इनके सिवा दो अत्यंत उज्ज्वल और सुन्दर गदाएँ, जिनके नाम मोदकी और शिखरी हैं, तुम्हें अर्पण करता हूँ। धर्मपाश, कालपाश और वरुणपाश भी बड़े उत्तम अस्त्र हैं, इन्हें भी आज तुम्हारे हवाले करता हूँ। सूखी और गीली दो प्रकार की अशनि तथा पिनाक एवं नारायणास्त्र भी दे रहा हूँ। अग्नि का प्रिय आग्नेयास्त्र, जो शिखरास्त्र के नाम से प्रसिद्ध है, तुम्हें अर्पण करता हूँ। अस्त्रों में प्रधान वायव्यास्त्र, हयशिरा, क्रौञ्च और दो शक्तियों को भी देता हूँ। कंकाल, भयंकर मूसल, कपाल तथा किंकणी आदि सब अस्त्र, जो राक्षसों के वध में उपयोगी होते हैं, तुम्हें दे रहा हूँ। नन्दन नाम के प्रसिद्ध विद्याधरों का महान् अस्त्र, उत्तम खड्ग, गंधर्वों का मोहनास्त्र, प्रस्वापन, प्रशमन, सौम्य, वर्षण, शोषण, संतापन, विलापन, कामदेव का प्रिय एवं दुनिवार्य अस्त्र मादन, गंधर्वों का प्रिय मोहनास्त्र, तामस, सौमन, संवर्त, मौसल, सत्य और मायामय अस्त्र भी अर्पण करता हूँ। सूर्य देवता का तेजःप्रभ नामक अस्त्र जो शत्रु का तेज-नाश करनेवाला है तुम्हारे अधीन करता हूँ। सोम देवता का शिशिर नामक अस्त्र, त्वष्टा (विश्वकर्मा) का अत्यंत दारुण अस्त्र और भग देवता का शीतेषु नाम वाला मानव-

अस्त्र भी आज तुम्हें दे रहा हूँ।' अस्त्रों की इस गणना से स्पष्ट ज्ञात होता है कि तत्कालीन आर्यों के अस्त्र-शस्त्र अनेक क़िस्म के तथा विभिन्न मौकों के लिए विभिन्न प्रकार के हुआ करते थे। साथ ही, उन्हें जितने देशों का ज्ञान था उन देशों में व्यवहार में लाए जाने वाले अस्त्र-शस्त्रों का भी उन्हें पूर्ण ज्ञान था।

तत्कालीन आर्यों में उनकी उच्च संस्कृति के सूचक कुछ वैसे नियम भी थे जो उन्हें अस्त्रों के मनमाना व्यवहार कर पाने से उन अस्त्रधारियों को रोक रखते थे। सीता दंडकारण्य में राम को याद दिलाती हैं—'समझदार लोग अग्नि-संयोग की तरह शास्त्र-संयोग को भी विकार का कारण बतलाया करते हैं। आप भी सदा धनुष लिए रहते हैं, अतः आप उस ऋषि-जैसी बुद्धि अपनी कभी मत करना कि बिना वैर दंडकारण्यवासी राक्षसों का वध करने लगें।' इसके उत्तर में रामचंद्र सीता को विश्वास दिलाते हैं—'क्षत्रिय लोग धनुष-धारण इसलिए करते हैं कि जिससे किसी दुखिया का आर्त्त शब्द न सुन पड़े, अर्थात् कोई बली किसी निर्बल को सताने न पावे।' अगस्तय मुनि के कहने से ही रामचंद्र ने अपना तपस्वी का जीवन रहने पर भी इन्द्र का दिया धनुष, एक तलवार और दो तूणीर जिनमें बाण कभी नहीं घटते थे, ग्रहण किया था।

शस्त्रों का व्यवहार करने के पहले शस्त्रधारी के लिए बहुत-सी बातें विचारणीय होती थीं। वह विचार न रखने वाला अधर्मी समझा जाता था। बाली पर बाण चला चुकने पर जब रामचंद्र उसके सामने उपस्थित हुए तो उसने उन्हें फटकारते हुए कहा था—'मैंने तुम्हारे देश या नगर में कोई बुरा काम नहीं किया, इसलिए मेरी समझ में नहीं आता कि तुमने मुझे क्यों मारा है। जिस समय मैं सुग्रीव के साथ युद्ध में फँसा था उस समय तुमने मुझे तीर मारा। अब मैंने अच्छी तरह जान लिया कि तुम कोरी कर्म की ध्वजा उड़ाने वाले, तृणों से ढके कूप की तरह अधर्मी और पापाचारी हो। तुम कपटी धर्मानुष्ठायी हो। देखो, मैं तो सदा फल-मूल खाया करता हूँ और वन में रहने वाला बंदर हूँ, फिर मैं दूसरे के साथ युद्ध कर रहा था, ऐसी हालत में बतलाओ तो कौन ऐसा क्षत्रियकुलोत्पन्न शास्त्रों को सुनकर धर्माधर्म के संबंध में संशयहीन हो, धर्मधारियों-जैसे चिह्न धारण कर तुम्हारी तरह ऐसा कठोर कर्म करेगा ?'

निरपराध वा दूसरों के साथ युद्ध में संलग्न व्यक्ति के सिवा स्त्री-जाति मात्र पर शस्त्र-प्रहार करना मना था। आर्यों के समाज में प्रचलित नियम ही भरत ने कहा है—'प्राणीमात्र के लिए स्त्रियाँ अवध्य हैं।'

पर दक्षिण की आर्येतर जातियों की परिपाटी कुछ और

ढंग की थी। मेघनाद ने हनुमान से कहा था—'तू जो यह कहता है कि स्त्रीवध न करना चाहिए, सो यही क्यों, जिस किसी काम के करने से शत्रु को पीड़ा पहुँचे, वही काम अवश्य करना चाहिए।' यह कह कर उसने रोती हुई मायामयी सीता को तेज़ तलवार से काट डाला था। आर्य-नीति के अनुसार यह महा अधर्म करार दिया जाता। उन के अनुसार सिर्फ एक ही अवस्था में स्त्रीहत्या की जा सकती थी। विश्वामित्र ताटका का वध करने की आज्ञा देते समय रामचंद्र से कहते हैं—'तुम स्त्री-हत्या का विचार करके उसे मारने से मुँह न मोड़ना, क्योंकि चारों वर्णों की प्रजा का हित करने के उद्देश से क्षत्रिय के लिए ऐसा करना आवश्यक हो जाता है। जिनके ऊपर राज्य का भार है, उनका तो यह सनातन धर्म है। ताटका महापापिनी है, अतः उसे मार डालो।'

अस्त्र-शस्त्रों के सिलसिले में सुदूर दक्षिण—लंका के लोग भी बहुत कुछ आर्यों की बराबरी के थे। रावण द्वारा उपयोग में लाए गए हथियारों में बाणों के अतिरिक्त गदा, परिघ, चक्र, मूसल, पत्थर, पेड़, शूल, परश्वादि शस्त्रों की वर्षा करने का वर्णन किया गया है। वाल्मीकि के अनुसार ये सब शस्त्र आश्चर्यकर शक्ति से बनाए गए थे। कुंभकरण ने भी राम को युद्धभूमि में ललकारते हुए कहा था—'तुम मुझे

विराध मत समझ लेना ! मैं हूँ कुंभकर्ण ! इस मेरे विशाल मुद्गर को जरा देख लो । यह लोहे का बना हुआ है ।'

राक्षस आर्यों के भी बहुत-से अस्त्रों से परिचित थे । रावण ने मेघनाद को युद्ध में जाने की आज्ञा देते समय कहा था—'तुम ब्रह्मास्त्र का चलाना जानने वाले, शस्त्र चलानेवालों में श्रेष्ठ और सुरअसुर दोनों को शोक देनेवाले हो । इन्द्रादि समस्त देवता तुम्हारे युद्धविक्रम को देख चुके हैं और ब्रह्माजी का आराधन् कर तुमने अस्त्रों को पाया है । ......अपना प्रयोजन सिद्ध करने के लिए अन्यूनातिरिक्त एकाग्रचित्त हो और धनुष-संबंधी अस्त्र-बल का सहारा लेकर तुम अपना कार्यारंभ करो । बिना मंत्राभिषिक्त अस्त्र-प्रयोग के तुम हनुमान को नहीं पकड़ सकोगे, अतः अस्त्रों के मंत्रो को याद कर तुम जाओ ।'

मोर्चेबंदी की कला में भी राक्षस पिछड़े हुए नहीं थे। हनुमान ने उसका वर्णन किया है—'इस पुरी में बहुत बड़े और विशाल चार द्वार हैं । उन द्वारों पर बड़े-बड़े और बड़े मजबूत इषूपल नामक यंत्र लगे हैं । इनके द्वारा शत्रु की आक्रमणकारी सेना मार कर भगा दी जाती है । द्वारों पर पैनी और लोहे की बनी सैकड़ों शतघ्नी राक्षसो ने बना कर सजा रखी हैं । ......इस लंका के परकोटे के चारों ओर अगाध खाई है जिन पर चार बड़े लंबे-चौड़े लकड़ी के पुल बने हैं । उनमें बड़ी-बड़ी

कलें लगी हैं जिनके पास ही उन कलों को चलानेवाले राक्षस सैनिकों की छावनियों की पँक्तियां हैं। इन्हीं से शत्रु-सैन्य के आक्रमण से नगरी की रक्षा की जाती है। वहाँ जो कलें रखी हैं उन्हें घुमाते ही खाई का जल चारों ओर बढ़ने लगता है और इस जल की बाढ़ से शत्रुसेना डूब जाती है। स्वयं लंका नगरी ही एक ऐसे पहाड़ के ऊपर है जो सीधा खड़ा हुआ है; उस पर चढ़ने का रास्ता नहीं है। वह देवताओं के दुर्ग की तरह दुर्गम है। लंका में नदी-दुर्ग, गिरिदुर्ग, वनदुर्ग और कृत्रिम दुर्ग भी हैं।'

वैसी लंका नगरी तक पहुँच कर उन दुर्गों को तोड़ उनपर अधिकार जमाने का कौशल अवश्य ही साधारण-सी बात नहीं थी। इस सिलसिले में आर्यों के सैन्यसंगठन की ओर ध्यान देना आवश्यक है। इस मामले से हमारा परिचय भरत की ससैन्य वनयात्रा तथा बानरों द्वारा सेतुबंध-निर्माण किए जाने वाले वर्णन से होता है। भरत के आज्ञानुसार, भूमि के भेद जानने वाले, देखते ही यह जान लेने वाले कि अमुक भूमि में जल कितनी दूर पर है अथवा है कि नहीं, परिश्रमी बेलदार, जल को बाँध कर रोकनेवाले अथवा पुल बनानेवाले मजदूर, राज, बढ़ई, निरीक्षक, कल-पुर्जों के जाननेवाले, मार्गों के ज्ञाता और वृक्ष काटनेवाले, कुँआ खोदनेवाले, दीवारों पर अस्तर करने वाले, बँसफोड़ा

तथा अन्य कामों में समर्थ और मार्गप्रदर्शक सेना के रवाना होने के समय उसके आगे-आगे चलते हैं। सेना के साथ चलने वालों में कुम्हार, कपड़ा बुननेवाले कोरी, हथियार बनाने वाले कारीगर, मोरपंखी बनाने वाले, आरी से लकड़ी चीरने वाले, कलईगर, शीशा बनाने वाले, मणि-मोती बेधने वाले, हाथी दाँत का काम करने वाले, अस्तरकार, गंधी, सुनार, कंबल बनानेवाले, स्नान कराने वाले, नौकर, वैद्य, कलार, धोबी, दर्जी, मल्लाह आदि के नाम गिनाए गए हैं। भरत की सेना भी 'चतुरंगिनी' थी। इसमें रथ, हाथी, घोड़े और पैदलों की गिनती होती थी। यह धन-धान्य, जल, अस्त्र-शस्त्र, यंत्र और शिल्पकारों से सुसज्जित हमेशा तैयार रखी जाती थी। सैन्य-संचालन तथा शिविर-स्थापन वैज्ञानिक ढंग से किए जाते थे। सैनिकों का राजा द्वारा सम्मान होता था, इसी कारण वे राजभक्त और कर्त्तव्यपरायण होते थे। यह सारी सेना योग्य सेनापति के अधीन रहती थी। रामचंद्र ने भरत से सैन्य-संबंधी समाचार पूछते समय प्रश्न किया है—'तुमने किसी ऐसे पुरुष को, जो व्यवहार में चतुर, शत्रु को जीतनेवाला, सैनिक कार्यों में (व्यूहादि रचना में) चतुर, विपत्ति के समय धैर्य-धारण करने वाला, स्वामीका विश्वासपात्र, सत्कुलोद्भव, स्वामिभक्त और कार्य-कुशल हो, अपना सेनापति बनाया है कि नहीं? बलवान, प्रसिद्ध,

युद्धविद्या में निपुण और जिसके बल की परीक्षा ली जा चुकी है और जो पराक्रमी है, ऐसे पुरुषों को पुरस्कृत कर तुमने उत्साहित किया है कि नहीं ? तुम सेना को कार्यानुरूप भोजन और वेतन यथासमय देने में विलंब तो नहीं करते ? सब कुलपुत्र (राजपूत) और सरदार तो तुम्हारे ऊपर अनुराग रखते हैं ? क्या समय पर वे तुम्हारे लिए सावधानता-पूर्वक अपने प्राण दे डालने के लिए तैयार हो सकते हैं ?'

रामायणकाल में अपने और शत्रु के बलाबल का ज्ञान रखने तथा तदनुसार राजा को सम्मति प्रदान करनेवाले एक विशेष युद्धसचिव का भी ओहदा होता था। युद्ध छिड़ने के पूर्व जिसमें युद्ध का कार्यक्रम तैयार किया जाता था, ऐसी रणपरिषदें भी होती थीं। युद्ध छिड़ने के पहले यदि संभव हो तो लड़ाई रोक रखने की चेष्टा की जाती थी। ऐसी चेष्टाओं में सैनिक नीति के प्रधान अंग राजदूत हुआ करते थे। वे शत्रुपक्ष से मिलकर यदि युद्ध टल सके तो उसे टाल दिए जाने के संबंध में बातें किया करते थे। वे दूत अवध्य होते थे। वास्तविक युद्ध में भी नीति का यथेच्छ ख़याल रखा जाता था। इसी नीति के अनुसार रामायण-कालीन वीर महापराक्रमी होने पर भी युद्धविमुख पर शस्त्र चला अथवा धर्मयुद्ध के नियमों का उल्लंघन कर अपना सुयश कभी भी नहीं खोते थे।

तत्कालीन सैनिक यंत्रकारों के कौशल का पर्याप्त परिचय हमें सेतुबंधनिर्माण की वर्णना से मिलता है— 'हाथी के समान शरीरवाले महाबलवान बानर पत्थरों को उखाड़ उखाड़ कर और गाड़ियों पर ढोकर वहाँ पहुँचाने लगे। उन पत्थरों के बड़े टुकड़ों को जल में डालने से समुद्र का जल इतना उछलता कि आकाश में चला जाता और फिर नीचे गिर जाता था। कितने ही बानर सौ 'योजन' लंबा सूत थाम पुल की सिधाई ठीक करते थे।.....नल ने जो पुल बाँधा था वह बड़ा लंबा-चौड़ा, बड़ा मजबूत, सीधा तथा नीचा-ऊँचा न होकर समान चौरस था और उसमें गड्ढे भी नहीं थे।'

रणकौशल में राम-रावण दोनों ही पक्ष के यथेष्ट अग्रसर हुए रहने के कारण ही युद्धभूमि ने भी बड़ा विकराल रूप धारण कर लिया था। उस विकरालता का थोड़ा-सा परिचय निम्नलिखित दृष्टांत से हो जाता है—

'उस समय दोनो ओर की सेना वेग से जल के भँवर की तरह चक्कर खाने लगी और खलबलाते हुए अपार समुद्र की तरह सेनाओं में शब्द होने लगा। ...मरे हुए बानरों और राक्षसों की लोथों से पटी रणभूमि ऐसी जान पड़ती थी मानों पर्वतों से भरी पृथ्वी हो। युद्धक्षेत्र की वह रक्त-रंजित भूमि वसंतऋतु में टेसुओं के फूलों से ढकी भूमि की

तरह शोभायमान हो रही थी। उस रणरूपी नदी में वीरों की लोथें तो नदी के उभय तट थे, टूटे हुए शस्त्र बड़े-बड़े वृक्ष थे, उसमें रुधिर ही जल था। ऐसी वह नदी यम-रूपी महासागर में जाकर गिरती थी। यकृत और सीहा इस नदी में कीचड़ तथा आँतें सिवार बन रही थीं। मरे शरीर और सिर ही उसमें मछलियाँ थीं। कटे हाथ, पैर, नाक, कान आदि अवयव घास-फूस जैसे उस नदी में उतरा रहे थे। वीरों की चर्बी उसका फेन बन रही थी। उसके तट पर गीध, हंस, कंक और सारस बैठे थे। कायरों के लिए वह नदी दुस्तर थी। पर जैसे गजेन्द्र कमलपराग से रँगी नदी पार कर लाल रंग के हो जाते हैं वैसे ही इस दुस्तर रणरूपी नदी को पार कर वानरश्रेष्ठों और वीर राक्षसों के शरीर लाल रंग के हो गए थे।'

ऐसी घमासान लड़ाई के बाद विजय राम की ही होती है। बाल्मीकि के अनुसार राम की यह विजय उनके अस्त्रों की श्रेष्ठता वा अधिक उन्नतिशील युद्धविद्या के बल पर जितनी नहीं हुई उतनी वह उनकी युद्ध-प्रणाली में धर्मनीति को आश्रय देने के कारण हुई थी। एक और अर्थ में यह त्याग और भोग के बीच का संग्राम था। आर्योचित त्याग के प्रतीक राम ने भोग को श्रेष्ठ मानने वाले दक्षिण के भौतिक दृष्टि से उच्च समुन्नत राक्षसों पर विजय प्राप्त की थी।

यह विजय वास्तव में उच्च आर्य आदर्श की थी। दूसरे शब्दों में—यह विजय धर्म की अधर्म पर हुई थी। इसी कारण यह युद्ध हमारे देश में सिर्फ ऐतिहासिक महत्त्व ही नहीं रखता बल्कि सांस्कृतिक महत्त्व के कारण अमर बन चुका है। राम का आदर्श, आज हजारों वर्ष के बाद भी, हिन्दूमात्र का महान आदर्श बना हुआ है।

राम-राज्य

वाल्मीकि मुनि ने राम-राज्य का वर्णन किया है— 'जब तक श्रीरामजी ने राज्य किया तब तक उनके राज्यकाल में न तो कोई स्त्री विधवा हुई, न किसी को रोग ने सताया और न किसी को साँप ने काटा। चोर-डाकुओं का तो उनके राज्य में नाम तक नहीं था। दूसरे का धन ले लेना तो दूर रहा, उसे कोई हाथ से स्पर्श तक नहीं करता था। उनके राज्य-काल में ऐसा कभी नहीं हुआ कि किसी बूढ़े ने किसी बालक का मृतक-कर्म किया हो। सभी लोग प्रसन्न थे, सभी धर्मपरायण थे तथा श्रीरामचन्द्र जी उदास होंगे इस विचार से आपस में किसी का जी तक न दुखाते थे। वृक्ष सदा पनपते और फल-फूलों से लदे रहते थे। यथासमय वर्षा होती थी और सुखस्पर्शी हवा चला करती थी। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र कोई भी लोभी-लालची न था। सब लोग अपने-अपने कर्मों से संतुष्ट रह कर उन्हीं का आचरण

करते थे। श्री रामजी के शासन-काल में प्रजा धर्म-परायण थी तथा सब लोग सुलक्षण और धर्मनिष्ठ थे।'

वाल्मीकि के वर्णन से ही पता चलता है कि रामायण-काल के आदर्श राजा, सुसंस्कृत प्रजा तथा कर्त्तव्यनिष्ठ अधिकारीवर्ग अपनी नीति-परायणता के लिए विख्यात थे। यह उच्चकोटि की नीति-परायणता, बिना सारे राज्य में उच्च सांस्कृतिक शिक्षा के उपलब्ध रहे, संभव नहीं हो सकती थी। रामराज्य में साधारण नागरिक का जीवन भी उस सीमा तक पहुँच चुका था जिसे कोई भी सुसभ्य और सुसंस्कृत व्यक्ति अपना आदर्श मान सकता है। इसीलिए रामराज्य हमारे देश के इतिहास में न सिर्फ शासन-प्रणाली तथा बाह्य जीवन से संबंध रखनेवाली सब बातों की दृष्टि से सब से सुन्दर काल गिना जाता है बल्कि वह मनुष्य के आदर्श जीवन का ही पर्यायवाची बन गया है।

पर उस आदर्श का निभाते जाना साधारण-सी बात नहीं थी। इस संबंध में अपना सच्चा मनुष्यत्व सिद्ध कर दिखलाने के लिए आदमियों के बड़े से बड़ा त्याग भी तुच्छ मानना पड़ता था। सीता के जीवन को ही उस आदर्श का प्रतीक मान कर रामायण पर दृष्टि डालने से इसका स्पष्टीकरण हो जाता है। सीता का चरित्र आँकने में वाल्मीकि ने बड़े ही सूक्ष्म तथा कोमल कूँचियों से काम

लिया है। एक स्थान पर उनका चित्र अंकित करते हुए उन्होंने कहलाया है—'हे सुन्दरी! जान पड़ता है, रूप रचने वाले ब्रह्मा ने तुझे रचकर फिर रचना करना ही त्याग दिया है।' पर उसी सुन्दरी के जीवन में कष्टों की कोई सीमा नहीं है। रावण भोग की ओर सीता का ध्यान आकर्षित करते हुए कहता है—'एक वेणी धारण करना, बिना बिछौने की भूमि पर सोना, मैले कपड़े पहिनना और अनावश्यक उपवास करना तुझे शोभा नहीं देता। ......तेरी यह सुन्दर उठती हुई जवानी बीती-जा रही है। यह जवानी नदी की धार की तरह है, जो एक बार बह गई वह फिर लौट कर नहीं आ सकती।' सीता उसकी ओर पीठ फेर कर उत्तर देती है—'मैं सती स्त्री हूँ।' उन्हें अपने सतीत्व के आदर्श की रक्षा में मालूम नहीं कितने असीम दुःख भोगने, कष्ट झेलने और अत्याचार सहन करने पड़ते हैं। पर फिर भी उनकी अग्निपरीक्षा बाकी ही रह जाती है।

दीर्घकालव्यापी वियोग का अंत होने पर जब सीता राम के सामने आती हैं तो वे भौंहें चढ़ा लेते हैं और टेढ़ी निगाह से उनकी ओर देख कठोर शब्दों में कहते हैं—'जिस कीर्त्ति के लिए मैं ने तुम्हारा उद्धार किया वह मुझे मिल चुकी। अब मुझे तुम से कोई मतलब नहीं! अब तुम जहाँ चाहो जा सकती हो'! सीता चिता जलवाती हैं और सब के सामने ही

घी की पूर्णाहुति की तरह आग में प्रवेश कर जाती हैं। 'अग्नि' उन्हें परीक्षा में उत्तीर्ण कर देते हैं। पर सीता के दुखों का फिर भी अंत नहीं होता।

अयोध्या लौट आने पर कुछ ही दिनों बाद सीता के संबध में राम को लोकापवाद की भनक मिलती है। सीता से पुन वियोग की कल्पना मात्र से ही उनका हृदय विदीर्ण होने लगता है। फिर भी वे अपने को पत्थर से भी कठोर बना गगा-पार के निर्जन वन में सीता को निर्वासित कर देते हैं। इस मौके पर उसे अपने आश्रम में आश्रय देनेवाले स्वय वाल्मीकि मुनि ही होते हैं।

वाल्मीकि राम के सामने उपस्थित हो उन्हें सीता को अपनाने के लिए परामर्श देते समय कहते हैं—'मैंने मन, वाणी और क्रिया द्वारा कभी कोई पाप नहीं किया है और हजारों वर्ष तक भारी तपस्या की है। यदि सीता में कोई दोष हो तो मुझे उस तपस्या का कोई फल न मिले।' पर राम फिर भी सीता की शुद्धता के और भी प्रमाणित किए जाने पर जोर देते हैं। कहीं भी आश्रय न देख सीता मातृभूमि से कहती हैं—'राम को छोड़ मैं किसी भी दूसरे पुरुष को नहीं जानती—मेरी यह बात यदि सत्य हो तो हे माधवी पृथ्वी! तू मुझे अपनी गोद में स्थान दे।'

सीता-जैसी अपनी प्यारी साध्वी पुत्री का रुदन सुन